कविता प्रकाशन, बीकानेर

# मेरी कैफियत

'यादों की तीर्थयात्रा' यह नाम अपने में सब कुछ समेटे है। किसी स्पष्टीकरण की अपेक्षा उसे नहीं है। इनमें जिनकी यादों को हमने सहेजा है उनमें से अधिकांश हमारे श्रद्धास्पद रहे हैं। उनको याद करना तीर्थयात्रा करने जैसा ही है। इनमें कुछ ऐसे अग्रज भी हैं जिन्होंने हमारा मार्गदर्शन किया है। उनके प्रति भी हम नतमस्तक ही हो सकते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं जो आयु में हमसे छोटे रहे हैं जैसे- सर्वश्री जगदीशचन्द्र माथुर और भवानीप्रसाद मिश्र। भवानी भाई पर लिखने का अवसर तब आया जब उनकी साहित्य साधना के लिए उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया गया। माथुर साहब की अकाल मृत्यु पर बिहार राष्ट्रभाषा परिषद ने 'परिषद पत्रिका' का स्मृति अंक निकाला था। उसी के लिए यह लेख हमने लिखा था। सच तो यह है कि अधिकांश लेख इसी रूप में लिखे गये हैं। शेष लेख उन व्यक्तियों के जीवनकाल में ही लिखे गए हैं। उनमें से पांच तो आज भी हमारे सौभाग्य से हमारे बीच में विद्यमान हैं।

यह सब बताने की आवश्यकता इसलिये पड़ी कि प्रायः ये सभी लेख विशेष परिस्थितियों में लिखे गये हैं, स्वतन्त्र रूप से उनका अध्ययन करने के लिए नहीं लिखे गये। फिर भी अध्ययन हुआ तो है ही यद्यपि दृष्टि शुभ और सुन्दर पर अधिक रही है। यूं भी कह सकते हैं कि हमने अपने-आपको इस बात का अधिकारी नहीं समझा कि हम अपने गुरुजनों की चीर फाड़ कर सकें।

प्रशंसा करनी हो या निन्दा, हम भारतवासी दोनों ओर विशेषणों का प्रयोग करने में बहुत उदार हैं, संतुलन और आत्म सम्वरण हमारे स्वभाव

मे नहीं है। हमम स अधिकाश यह भी मानत रहे हैं कि हम व्यक्ति के गुणा पर ही ध्यान देना उचित है, दोषान्वेषण नही करना चाहिए। वे व्यक्ति भी कम नही हैं जा दोषान्वेषण के प्रति ही अधिक उदार दिखाई देत हैं।

कमजारी मे कटकर कोई महान् नही होता' यह बात हम मानन का तैयार हो नही दीख पडते। एसी स्थिति मे यदि हम कहें कि हमारा सस्मरण, जीवनी और आत्म-कथा लेखन सही अर्थो मे वास्तविकता स कुछ दूर ही होता है तो अतिशयोक्ति नही होगी।

इस जटिलता के बावजूद हमन प्रयत्न किया है कि हम व्यक्ति के प्रति पूरी श्रद्धा रखते हुए भी उनकी सही पहचान करा सकें। यह प्रयत्न कितना और कहा तक सफल हो सका है, यह पाठक जानें।

हम तो उन सबके प्रति नतमस्तक हैं जिनके कारण यादा की यह तीर्थयात्रा सभव हो सकी।

८१८ कुण्डेवालान
अजमेरीगेट दिल्ली ६

—विष्णु प्रभाकर

१९८१

थी। उस 'अति उत्साह' की सज्ञा दी जा सकती है। यही उनकी सबसे बडी शक्ति थी और यही दुर्बलता भी जो उनके लिए शत्रु पैदा करती थी।

सन 1956 इ० म भारत मे भगवान् बुद्ध की 2500वी जन्म जयन्ती जिस उत्साह और जिस स्तर पर मनाइ गइ, उसकी तुलना खाज नही मिलेगी। एक तो भारत सरकार की कूटनीति थी पडोसी बौद्ध दशो को आकृष्ट करने की दूसरे तथागत के प्रति इस दश के बुद्धिजीवियो की अपनी आस्था भी कम नही थी। तीसरी सबसे बडी बात यह थी कि उस समय सूचना और प्रसारण मन्त्रालय का सचालन जिन व्यक्तियो के हाथो म था व सभी साहित्य और सस्कृति के जाने माने नाम थे। मन्त्री थे डा० केसकर सचिव थे मराठी के प्रसिद्ध विद्वान डॉ० लाड और आकाशवाणी के महानिदेशक थ स्व० जगदीशचन्द्र माथुर। उन सबकी कल्पना लोक म आकाशवाणी भारतीय सस्कृति के प्रचार प्रसार का सबल और साथक माध्यम थी जो कुछ भारतीय सस्कृति और साहित्य मे सर्वोत्तम है वही आकाशवाणी को प्रसारित करना है।

इस कल्पना को रूप दने के लिए कसी कसी योजनाए बनी। साहित्य समारोह सगीत समारोह नाटय समारोह, राष्ट्रीय कवि सम्मलन खुले प्रागण स कायक्रमो का प्रसारण, सीधे रगमच स नाटको का प्रसारण, आखो देखी सस्कृत म नाटको का प्रसारण इत्यादि इत्यादि। आकाशवाणी जस वातानुकूलित स्टुडियो स निकलकर खुले आकाश के नीचे, मुक्त प्रागण म आ गइ थी। कसी गहमागहमी थी उन दिनो! इसी गहमा गहमी का रूप बनने के लिए एक योजना अस्तित्व म आइ। वह थी प्रत्येक भाषा के प्रसिद्ध लेखको को निर्देशक के रूप म आकाशवाणी म जोडने की। मैं भी उसी योजना के अन्तगत दिल्ली केन्द्र म नाटक विभाग का निर्देशक नियुक्त हुआ। स्वप्न मे भी मन यह पद नही चाहा था लेकिन आश्चय एक दिन फोन पर स्व० महाकवि सुमित्रानदन पन्त की आवाज आती है विष्णु प्रभाकर जी माथुर साहब चाहते है और मैं भी चाहता हू कि आप दिल्ली के नाटक विभाग म आ जाए। सभी जाने माने साहित्य कार आ रहे हैं।

मैं चकित रह गया। यह गौरव बिना मागे मिल रहा है लेकिन मैं

तो मुक्त रहने का निश्चय कर चुका था। उस समय टाल गया। माथुर साहब ने सीधे मुझसे कुछ नहीं कहा। नाना दिशाओं और नाना मित्रों के मुख से बहुत कुछ सुना। श्रेय जैसे उन सबका था, लेकिन फोन फिर पन्तजी का ही आया 'प्रभाकर जी, हम सब चाहते हैं कि आकाशवाणी सरकार का केवल एक प्रचार तन्त्र बनकर न रह जाय। आप लोग आइए। वेतन भी अच्छा है। रीडर का ग्रेड दे रहे हैं।'

माथुर साहब चाहें और पन्त जी फोन करें। मैं असमंजस में पड़ गया। मित्रों को और परिवारों को टटोला और अन्त में निश्चय किया कि तीन वर्ष के लिए प्रयोग कर देखने योग्य है।

लेकिन, मैं उस सोने के पिंजरे में तीन वर्ष रह नहीं पाया। अट्ठारह महीने काटने भी मुश्किल हो गए। हाँ, उतने समय में वहाँ जो कुछ देखा वह निश्चय ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सन् 1955 ई० का सितम्बर का वह महीना मेरे साहित्यिक जीवन की विभाजक रेखा प्रमाणित हुआ। माथुर साहब को बहुत पास से देखा है। उनका स्नेह पाया। नोक झोंक भी हुई। लेकिन एक क्षण के लिए भी मैंने यह अनुभव नहीं किया कि मैं किसी नौकरशाह (ब्यूरोक्रैट) के नीचे काम कर रहा हूँ। मेरे लिए वह एक साहित्यिक मित्र ही बने रहे।

जीवन में पहली बार उनसे दिल्ली के एक सम्मेलन में भेंट हुई थी— किसी मित्र के माध्यम से। प्रथम मिलन की वह मधुर मुस्कान अन्तिम मिलन के क्षण तक म्लान नहीं हुई। तब मुझे उन्होंने अपना एकांकी संग्रह भेंट किया था। उसके बाद एक दिन वह अचानक मसूरी में लाइब्रेरी के पास मिल गए। बड़े प्रसन्न हुए। बोले, "मुझे तो आपके एकांकी बहुत अच्छे लगते हैं। पता नहीं, आपको मेरे नाटक कैसे लगते हैं?"

मैं तो उनके शिल्प और उनकी भाषा पर मुग्ध था। उनकी यह बात सुनकर स्तब्ध रह गया। वह भारतीय सिविल सर्विस के उच्च अधिकारी और मैं एक अजनबी दिशाहारा। जानता हूँ, वह मुझसे शिष्टाचार नहीं बरत रहे थे, मन की बात कह रहे थे। भाई कान्तिचन्द्र सौनरिक्सा ने मेरी जो 'छवि' उतारी थी उसे देखकर भी उन्होंने यही कहा था, 'तुमने सचमुच विष्णु जी के भीतर के नाटककार को पकड़ा है।' यह आत्मश्लाघा

की बात नहीं है। उनकी गुणग्राहकता की बात है। वह गलत हो सकते है, पर बेईमान नहीं।

बुद्ध जयन्ती का कार्यक्रम न भूतो न भविष्यति था। देश भर में धूम थी। एक एक दिन में कितने ही रूपक, संगीत रूपक और नाटक प्रस्तुत करने पड़ते थे। सवेरे ही जाता और रात को ग्यारह बजे के बाद लौटता। उन दिनों न टेप थे और न रिकार्डिंग की इतनी सुविधा थी। लगभग सब कुछ सीधे प्रसारित होता था। हर क्षण चुनौती से मन रहती। हर क्षण महानिदेशक का आदेश आता 'अमुक बौद्धतीर्थ पर स्वयं जाओ। अमुक तीर्थ पर अमुक को भेजकर रूपक तैयार करो। अमुक शिलालेख जाकर देखो।'

मुझे तक्षशिला जाने का आदेश था। लेकिन पाकिस्तान ने अनुमति नहीं दी। फिर भी मैं कल्पनालोक में वहां गया और रूपक तैयार किया। कालसी जाकर भी रूपक तैयार किया। भारत के अनेक साहित्यिक इस प्रकार अनायास ही भगवान बुद्ध की शरण में पहुंच गए थे। दिन में जाने कितनी बार पुकारते बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि धम्मं शरणं गच्छामि। मैंने एक दिन महानिदेशक माथुर से निवेदन किया 'माथुर साहब सब सुविधाएं आपने दी हैं दो बातें और कर दीजिए।

मुस्करा कर बोले क्या ?'

मैंने उत्तर दिया हम सबके लिए एक एक कमण्डल और एक एक जोड़ा चीवर और भगवा दीजिए।

व्यंग्य समझकर उनकी मुस्कराहट और बढ़ गई। पर इस जयन्ती की गाथा तो बहुत लम्बी है। माथुर साहब गदगद थे। उतने ही गदगद वे तब थे जब सोवियत देश के तत्कालीन राष्ट्रपति बुलगानिन और प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव भारत की यात्रा पर आए थे। दिल्ली तो जैसे पागल हो उठी थी और उस पागलपन को बड़ी सुष्ठुता से रूपायित किया था आकाशवाणी ने। प्रत्येक छोटा बड़ा अधिकारी उसमें भागीदार था। वैसी भावना भविष्य के लिए दुर्लभ है।

माथुर साहब के युग में आकाशवाणी ने वाणी के साथ आंखें भी पाई था। आकाशवाणी के लोग हर क्षण रिकार्डिंग मशीन लिये घूमते और

जनजीवन को लेकर कार्यक्रम तैयार करते। आखों देखी कार्यक्रम उन्ही मे एक था। उनके नाम को लेकर माथुर साहब कैसे चिन्तित रहे। मेरे कमरे मे सीधे फोन करते। श्रीरामचन्द्र टण्डन और मैं दोनों एक साथ बैठते थे। वही बात पन्त जी दिनकर जी नवीन जी और नये-नये नामों और नये-नये कार्यक्रमों पर चर्चा करते। माथुर साहब ने प्रफुल्लित स्वर मे कहा था आप लोगों का कमरा एक क्लब की तरह होगा। साधक और साहित्यकार इकट्ठे होंगे। साहित्यिक विषयों पर चर्चा होगी।

कैसे कैसे अनहोने स्वप्न देखे थे उन्होंने। कुछ तो उनके रहते ही नौकरशाही (ब्यूरोक्रेसी) की चट्टान पर चूर चूर हो गए। शेष उनके जाते न जाते तिरोहित हो गए। ज्वार पूरा होते न होते भाटा आ गया।

इसी गहमागहमी मे एक दिन मैं बस से गिर पड़ा। बहुत चोट आई। पर महानिदेशक माथुर घर पर फोन कर रहे हैं प्रभाकर जी सवेरे ही मेरे साथ मथुरा चलना है। कुछ आवश्यक कार्यक्रम रिकार्ड करने हैं।'

मैंने उत्तर दिया मैं तो घायल पड़ा हूँ। उठ भी नहीं सकता।'

वे बोले, हम कार से चल रहे हैं।

मैंने कहा मैं नहीं जा पाऊंगा, क्षमा करें।

नहीं जा पाएंगे ? निराशा जैसे उनके स्वर मे साकार हो उठी।

फिर एक दिन बुला भेजा। बोले मैंने कठपुतली के लिए नाटक लिखा है। उसे प्रदर्शित करनेवाला दल भी स्टुडियो मे है। उसे देख लो और नाटक का शेष भाग स्वयं पूरा कर दो।

वह युग जितना उत्साह और गहमागहमी के लिए स्मरण रहेगा, उतना ही वर्जनाओं के लिए भी। आदेश आते साठ प्रतिशत नाटक हास्य व्यंग्य के होने चाहिए पैंतीस प्रतिशत सामाजिक और ऐतिहासिक मनोवैज्ञानिक केवल चार प्रतिशत। त्रासदी कभी कभी और मले भटके हो। अश्लीलता अवैध प्रेम और मद्यपान इन सबका आकाशवाणी मे प्रवेश वर्जित है।

इन वर्जनाओं को लेकर बड़ी रोचक बहसें होती थीं। तब प्रशासक माथुर और साहित्यकार माथुर दोनों एक दूसरे से उलझ पड़ते। महानिदेशक की स्थिति दयनीय हो उठती। काश कोई उस युग

की फाइलों में ऐसी टिप्पणियों को एकत्रित कर सके। मेरी स्थिति उस समय बड़ी विषम थी। क्या श्लील है और क्या अश्लील ? कौन सा प्रेम वैध और कौन सा अवैध ? इश्क और शराब, ये शब्द डिक्शनरी से कैसे निकाले जा सकते हैं, दिमाग इसी भंवर में फंसा रहता। एक दिन मैंने उपनिदेशक से पूछा 'प्रेम कब अवैध होता है ?'

उनका उत्तर था 'जब वह पति पत्नी के बीच होता है।'

मैंने कहा वह तो अनुबंधित प्रेम है और वास्तविक प्रेम साहित्य की तरह मानव आत्मा की बंधनहीन अभिव्यक्ति।

वे उपनिदेशक हँसकर बोले, 'अनुबंधित प्रेम ही श्लील है, बाकी सब अश्लील।

मैंने महानिदेशक के दरबार में गुहार की। उत्तर मिला 'बड़ा कठिन है निर्णय देना। बस आप बाल वृद्ध और वनिता का ध्यान रखिए। पात्र शराब पी सकते हैं पर अन्त में उसे उचित नहीं ठहराइए।'

प्रशासक माथुर ने साहित्यिक माथुर से समझौता कर लिया और मैंने अपना सिर पीट लिया। अनेक पूर्वप्रसारित नाटक वर्जित करार दे दिए गए। उनमें मामा वरेरकर तथा स्वयं मेरे नाटक भी थे। अच्छे लेखक आकाशवाणी के लिए लिखने से जी चुराने लगे। पंजाबी की सुप्रसिद्ध कवयित्री अमृता प्रीतम भी उन दिनों आकाशवाणी में थीं। मैंने उनसे निवेदन किया, मेरे लिए एक नाटक लिख दीजिए न ?'

मुस्करा कर वह बोलीं विष्णु जी, आप तो जानते ही हैं। मेरे पास तो केवल इश्क है और वही आपके यहां वर्जित हो गया है।

इस त्रासदी का अन्त यहीं नहीं हुआ था। एक रात मंगल या इसी तरह के किसी ग्रह को लेकर एक स्वैर कल्पना (फन्तासी) प्रसारित हुई। दो दिन बाद देखता हूं कि एक महिला समीक्षक ने बड़ी कटु टिप्पणी की उसपर। लिखा, 'मैं तो सुनकर पसीना पसीना हो आई। खिड़की खोलनी पड़ी सांस लेने को।'

महानिदेशक माथुर ने उसे काटा। एक कागज पर चस्पा किया और लिखा प्रोड्यूसर ड्रामा प्लीज सी इट (नाटक निर्देशक इसे देखें)।

संयोग की बात दूसरे पुरुष समीक्षक ने उस स्वैर कल्पना (फन्तासी)

की भूरि भूरि प्रशसा की थी। मैंने वह कतरन महानिदशक की टिप्पणी
क नीचे चिपका दी और लिखा, महानिदशक कृपया इस भी दखें।
तुर त कागज लौट आया, लिखा था 'मरा आशय आपके काय पर
आक्षप करना नही था। कवल सूचना दना था।
मैंन लिख भेजा वहुत वहुत आभार आपका। मैं भी सूचना ही द
रहा था।'

हम,रे वीच म कइ सीढ़िया थी पर वे कभी हमार माग की वाधा
नही वनी। प्रसिद्ध वगाली डायरेक्टर और अभिनता श्री श म्भु मित्र उ ही
दिना अपन दल क साथ दिल्ली आए हुए थ। उनके नाटका की धूम थी।
एक दिन महानिदशक का एक विचित्र स दशा मिला 'उनका एक नाटक
रिकाड करक प्रसारित करा।'
मैंने कहा रगमच का नाटक ध्वनि नाटक कैस वनगा?
उनका सुझाव था 'प्रयोग करके देखिए तो।'
श म्भु मित्र न चखव क सुप्रसिद्ध नाटक एनिवरसरी' क आधार
पर वगला म श दिन वौंग लोक्खी वक' प्रस्तुत किया था। उसी का मैंन
रिकाड कर लिया। आकाशवाणी क वातानुकूलित स्टुडियो म कवल
अभिनेता ही होत है पर वहा तो दशक थे, अतिरिक्त अभिनता व पाश्व-
कर्मी थ। वह नाटक जव प्रसारित हुआ तव चित्र विचित्र ध्वनिया के
वीच मूल नाटक की आत्मा खोजे नही मिलती थी। समीक्षक न लिखा
रेडियो नाटक कसा नहा होना चाहिए, इसका यह सर्वोत्तम उदाहरण
है।

पर प्रयोगधर्मी माथुर एसी टिप्पणिया म हतोत्साह हो उठें ता
साधक कस? उ हान विशप रूप म श्री रमश महता का एक नाटक
आकाशवाणी क प्रागण म मचस्थ कराया और वही स वह प्रसारित
किया गया। वह प्रयोग एक सीमा तक सफल हुआ। फिर तो वैस काय-
क्रमा का सिलसिला चल निकला। आज भी कभी कभी दशका का
हर्षोल्लास वातावरण म गूज उठता है।
माथुर लगभग सभी नाटका को सुनत। उनपर चचा करत। प्रशसा
करन म कजूसी उ होन कभी नही की। फिर भी, मुझे लगता है वह

अपने अनेक रूपों के बीच से तुलन साधते साधते कभी कभी लड़खड़ा भी जाते थे। प्रशासक अनुशासन के बिना काम कर नहीं सकता और साहित्यिक होता है फक्कड़। इसलिए, उनकी न्याय तुला कभी इधर झुकती कभी उधर। कुर्सी पर बैठकर सहज मानव बने रहने की वह जी जान से चेष्टा करते लेकिन यह उनका दुस्साहस ही था। कुरसी अफसर के लिए होती है आदमी के लिए नहीं। माथुर को मैंने नौकरशाह (ब्यूरोक्रैट)की तरह आदेश देते हुए भी देखा है। उनकी देहयष्टि नाति दीर्घ थी। जब वह अपने अधीनस्थ दीर्घकाय अफसरों को, माथे पर त्योरियाँ डालकर आदेश देते तब मुझे नेपोलियन बोनापार्ट की याद आ जाती।

वे जितने मधुर और सौम्य थे उतने ही कठोर भी थे। सब कुछ लिखा भी नहीं जा सकता। पर वह दृश्य मैं नहीं भूल सकता। आकाश वाणी के एक छोटे अधिकारी संकट में थे। अनुशासन भंग का आरोप था उनपर लेकिन वह साहित्यकार भी थे। महाकवि पन्त ने बड़े विनम्र शब्दों में माथुर साहब से उनके लिए सिफारिश की। सहसा फाइल से दृष्टि उठाकर बीच ही में टोक दिया माथुर साहब ने, पन्त जी, मुझे मालूम है उनकी बात। पर यह आपकी चिन्ता का विषय नहीं है। मैं जानता हूँ मुझे क्या करना है।

महानिदेशक के उस कमरे में तीसरा व्यक्ति मैं ही था। साहब इतने बड़े भी हो सकते हैं, वह भी पन्त जी से और एक साहित्यकार को लेकर! निश्चय, यह अपराध कुछ गम्भीर रहा होगा। पर, वह स्वर मेरे अन्तर में कसक उठा।

*एक दूसरे अफसर का केस भी लगभग ऐसा ही था। उनकी ओर से माथुर साहब के एक परम मित्र ने उनसे कुछ कहना चाहा। तुरन्त जवाब मिला मैं जानता हूँ, वह मेरे विभाग में काम करते हैं पर आपका इस मामले में क्या सरोकार है?'*

लेकिन, ऐसे भी मामले हुए हैं, जिनमें उनकी सहज करुणा मुखरित हो उठी है। उर्दू के जाने माने शायर सलाम मछलीशहरी उन दिनों मेरे साथ काम कर रहे थे। जिन्दादिल दोस्त थे, पर शराब पीते थे

वेइन्तहा। घर और वाहर म फर्क करना उ हान नही सीखा था। एक पब्लिक मुशायरे म शराब म धुत उनस कुछ गुस्ताखी हा गई। दुभाग्य म भारत सरकार के एक मुस्लिम मन्त्री भी वहा वैठ थे। उ हान शिकायत कर दी और बचार सलाम साहव का वेतन साढे पाच सा रुपय स सिकुड कर सम्भवत साढे तीन सा रुपय रह गया। वहुत हाथ पैर मारे उ हान। मुझस बोले, भाई साहब, माथुर साहब स कहिए न!

माथुर साहब सब कुछ जानते थे। बोल प्रभाकर जी, बशक बेचारे के साथ अ याय हुआ है। कुछ करूगा भी, पर उ ह भी ता ध्यान रखना चाहिए।

सलाम क्या ध्यान रखत! शेरा शायरी और शराब का तो चोली-दामन का साथ है। लेकिन म थुर साहब न अवश्य ध्यान रखा। सलाम का वतन पाच सा हा गया। कुछ हानि तो आखिर उठानी ही थी। एक मन्त्री के सामने सावजनिक स्थान पर शराब पीकर हगामा किया था उन्होन।

उन अट्ठारह महीनो म जिस जगदीशचन्द्र माथुर को मैंन दखा वह एक अनुशासन प्रिय प्रशासक एक सहृदय साहित्यकार, एक सच्चा दश भक्त, दश की सस्कृति मे प्राण फूकनवाला एक कला साधक आर सबस ऊपर एक प्यारा दोस्त था। लेकिन मेरे प्राण ता उस पिंजरे म छटपटा रह थ। मेरा त्यागपत्र कोई स्वीकार नहीं कर रहा था। एक दिन मन चुपचाप अपने सहयोगी श्री चिरजीत को प्रभार सभलवाया और भाग आया। माथुर साहब का सूचना मिली, ता उ हान के द्रनिदशक से जवाब तलब किया आपने प्रभाकर जी को क्या जाने दिया? बुलाओ उनको।

लेकिन मै नही गया। उनका सन्देशा आया— दिल्ली केन्द्र म मन नही रमता तो डिप्टी चीफ प्रोडयूसर क पद पर मेरे साथ चल आओ।

मैं फिर भी नही गया। उन्हान मुझसे कभी शिकायत नहीं की। हालाकि मैं शिकायतें करता रहा और वह सहज प्रम से उत्तर दत रह।

नाटककार जगदीशच द्र माथुर दा कारणो म मुझे विशेष प्रिय रह एक अपनी प्रयोगधर्मिता के कारण। मच की सूक्ष्म स-सूक्ष्म प्रक्रिया

उनकी दृष्टि रहती थी। 'कोणाक' उनकी कला का सर्वोत्तम उदाहरण था। उसम एक भी नारी पात्र नहीं। फिर भी मानवीय सवग्न म ओत प्रात है। पर मजे हुए खिलाडी ही उम मूत्त रूप दे सकते हैं। उनके एकाकिया म रीढ की हड्डी' और 'भोर का तारा बहुत प्रसिद्ध हुए। विशपकर 'रीढ की हडडी जा आज के भारतीय समाज के घर घर की कहानी है। उनका रग शिल्प और उनकी भापा दोनो आकृष्ट करत थे। लोकनाटका म उनकी सक्रिय रुचि उनकी लोकप्रियता का सबम बडा कारण थी। प्रान्त प्रान्त की विशेपताओ को परखत वे थकत नही थे। अपन शासकीय जीवन के प्रारम्भिक वप उ हाने विहार मे विताए। वही स उन्हान लोककला को सहजना शुरू किया माना कि भारत की आत्मा उनकी लोककला म ही है। एक बार मैं केरल प्रदेश मे घूम रहा था। जहा जाता सुनता कि अभी अभी माथुर साहब भी आए थे। व त्रिचूर मे उस प्रदेश की बहुत पुरानी लोकशैली का मच देखने गए थे।

उनकी प्रिय वशाली को मैन दखा है। उसके प्राचीन गौरव को फिर से सचेतन करने का अदभुत काय किया था प्रशासक माथुर न। इसी वशाली स जुडे थे भगवान महावीर भगवान बुद्ध सम्राट वि दुसार और नगरवधू परमसुन्दरी आम्रपाली और प्रजातन्त्र के उपासक लिच्छ-विया की क्रीडाभूमि भी तो यही थी। सात हजार सात सौ सत्तर प्रासाद उतन ही कूटागार, आराम और पुष्करणिया सभी को इतिहास के खण्डहरो से खोज निकाला, वशाली सघ और वशाली महात्सव की नीव डाली। जबतक माथुर वहा रहे वातावरण गूजता रहा। वे क द्र म आए और विहार मे फिर से सब कुछ खण्डहर बन गया। कई वष बाद उजडी हुई वैशाली की जब मैंन उनस चर्चा की तो पीडा जैसे आखा म भर भर आई। बोले सुना तो मैंन भी है पर क्या कर सकता हू ?'

विहार को कितना दिया माथुर साहब ने! एक ओर सस्कृति के भवन का निर्माण किया दूसरी ओर गाधी जी की बसिक शिक्षापद्धति को स्थापित किया। वहा की लोककला को स वारा। वैशाली जनपद म प्राण फूके। विहार राष्ट्रभापा परिपद नवनालन्दा महाविहार वशाली प्राकृत शोध प्रतिष्ठान नेतरहाट विद्यालय इन सबकी स्थापना म उन्ही

का हाथ था। इसी कार्यकुशलता और उत्साह ने उनके विरुद्ध एक 'लाबी' तैयार कर दी थी। प्रदेश से केन्द्र तक उसका क्षेत्र था। वह 'कल्चर' से एग्रीकल्चर में भेज दिए गए। उन्हें शिक्षा विभाग में नहीं आने दिया गया। सूचना और प्रसारण मन्त्रालय में भी उनका प्रवेश वर्जित हो गया। लेकिन, कृषि विभाग में होकर भी वे यूनेस्को तक पहुंचे। लोग उनका विरोध क्या करते थे? क्योंकि वह साहित्य और संस्कृति की, लोककला की और मानवीय संवेदना की बात करते थे। केवल यांत्रिक प्रशासन, अर्थात् 'रोबट' बनकर रहना उनके लिए सम्भव नहीं था। एक बार इसी सम्बन्ध में मैंने उनसे बात छेड़ी तो उनके चेहरे पर करुण मुस्कान बिखर आई। आंखें नीची किये अस्फुट स्वर में कुछ कहा और मौन हो गए। दर्द सहा जाता है, उसका बखान नहीं किया जाता। मैं जानता हूं अति उत्साह जैसी मानवीय दुर्बलताओं के बावजूद वह कितने महान थे। महानिदेशक के पद पर आते ही उन्होंने आदेश दिया था जबतक मैं यहां हूं मेरे नाटक प्रसारित नहीं होंगे।

इसका अर्थ मैं जानता हूं। जाने कितनी संस्थाओं से वे जुड़े थे। कितने करणीय कार्य उन्होंने किए थे। महानिदेशक के पद पर रहते हुए क्रान्तिकारियों के संस्मरण उन्होंने रिकार्ड कराए। वे आज इतिहास की सम्पत्ति हैं। केवल प्रशासक तो हिंसा अहिंसा का प्रश्न उठाकर उस बहुमूल्य सम्पदा को खो देता। प्रौढ़ शिक्षा का भी बहुत कार्य उन्होंने किया। संस्मरण लिखने में वे सिद्धहस्त थे। अपने स्तर और पद के कारण कितने महाप्राण व्यक्तियों, नाना क्षेत्रों के कितने विशेषज्ञों, शासकों, साहित्यकारों, कलाकारों, गायकों और साधारण कठपुतली का तमाशा दिखानेवाले से उनका गहरा सम्बन्ध रहा। इसका यत्किंचित प्रमाण मिलता है उनकी पुस्तक 'जिन्होंने जीना जाना' में। उनकी अन्तस्तल का भेद देनेवाली दृष्टि और मानवीय संवेदना के कारण वे चित्र बहुत ही भावप्रवण हो उठे हैं। उनके सारे कार्यक्षेत्र उनकी सहज मानवता से प्राणवन्त थे। उनकी शिशुसुलभ मुस्कान, उनका मुक्त सहज व्यवहार भुलाए नहीं भूलते। याद आता है, जब राहुल जी होश गंवा बैठे थे, तब अनेक मित्र उन्हें देखने गए थे। माथुर भी आए उनसे मिलने।

राहुल जी के लिए सब एक रूप थे। उनकी पत्नी उनकी बेटी बन गई थी। सहसा माथुर साहब उनके बहुत पास आकर बैठ गए। बोले राहुल जी, मुझे नहीं पहचाना ? मैं जगदीशचन्द्र माथुर हूं।'

राहुल जी ने करुणाविह्वल नेत्रों से उन्हें देखा। फुसफुसाए 'भया भया !

माथुर कहते रहे— मैं तब बिहार में कमिश्नर था और आप जेल में थे। मैं आपसे मिलने गया था और अमुक अमुक विषय पर चर्चा हुई थी।

माथुर अतीत को कुरेदते जा रहे थे। हम वर्तमान में स्तब्ध-से खड़े थे। राहुल जी की तरल आंखें चमक रही थीं 'भया भया हां जेल में था। तुम आए थे। तुम माथुर हो न ? हां हां जगदीशचन्द्र माथुर। भया बड़ी पुरानी याद दिला दी तुमने।

माथुर साहब के चेहरे पर विजयोल्लास फूट पड़ा। राहुल जी कई क्षण सतृष्ण नेत्रों से देखते रहे। फिर, यथापूर्व शून्यवत हो गए।

जगदीशचन्द्र माथुर ने पश्चिमी उत्तरप्रदेश के एक छोटे से नगर में एक शिक्षाशास्त्री के घर जन्म लिया। अपनी प्रतिभा के बल पर इण्डियन सिविल सर्विस में चौथा स्थान पाया। उनका कार्यक्षेत्र बना बिहार। वहां की शिक्षा और संस्कृति में नये प्राण फूंके उन्होंने। फिर, महानिदेशक के पद से भारत की समग्र संस्कृति का रूपायित करने की प्राणपण से चेष्टा की। वही माथुर साहब एक दिन चुपचाप चले गए। बहुत कितना काम पड़ा था अभी करने को ! कितना किया उसका लेखा जोखा कौन ले इस कृतघ्न संसार में जहां हर व्यक्ति वैभव के ढोंग ज्वर में पीड़ित है ! वह नेक थे इसलिए विरोधी पैदा कर लेते थे। हवा में ऊंची उड़ानें भरते थे यह उनकी दुर्बलता थी। पर उतनी ही सचाई से धरती की बातें भी करते थे और उड़ानों को रूप देते थे। वह नेक ही नहीं ईमानदार भी थे। और आज की दुनिया में विशेषकर भारत में ईमानदार होना खतरनाक है क्योंकि ईमानदारी आदमी को बदनाम कर देती है।

## श्री जैनेन्द्रकुमार

[illegible] सन् 1933 के [illegible]। मैं [illegible] एक पुरानी [illegible] में रहता था। एक दिन [illegible] के [illegible] कि एक प्रौढ़ महिला ने बिना किसी [illegible] के [illegible] प्रवेश किया। मुझे उनका रूप [illegible] भी स्मरण है [illegible], [illegible] गोरा रंग और मुख पर मृदु मुस्कान—किसी [illegible] के लिए [illegible] को [illegible] कर देनेवाली भिक्षुणी की तरह वह मुझे लगी। उनके [illegible] में जो मधुर मातृत्व छिपा हुआ था उसने मेरे किशोर मानस को दुलारा। उनके हाथ में एक रसीदबुक थी और वे किसी महिला संस्था के लिए चन्दा मांगने आई थीं। चन्दा तो उन्हें मिला ही, पर जब तक मेरे मामा अन्दर से पैसे लाये तब तक मुझे उनका परिचय भी मिला। उन्होंने मुझसे पूछा 'क्या पढ़ रहे हो?'

मैंने उपन्यास का नाम बता दिया। सुनकर वे बोलीं 'परख पढ़ा है?'

'जी नहीं। किसने लिखा है?'

'जैनेन्द्रकुमार ने।'

'अच्छी पुस्तक है?'

'उस पर हिन्दुस्तानी एकेडेमी से पुरस्कार मिला है।'

मैंने सोचा, जिसे पुरस्कार मिला है, वह अवश्य महान् लेखक है। मैंने तुरन्त उनसे कहा, 'आप मुझे उस पुस्तक के मिलने का पता बता दीजिए। मैं जरूर पढ़ूंगा।'

बातें आगे बढ़ीं। उन महिला ने बताया, जैनेन्द्र मेरा लड़का है।

यह कहते हुए उनका सारा अस्तित्व उल्लास से भर उठा। उनके नेत्रों से झरते हुए तरल पदार्थ ने मुझे श्रद्धा से भर दिया। मुझे याद है कि तब मेरे मन में एक विचार उठा था, 'क्या मैं भी जैनेन्द्र जैसा बन सकता हूं ?'

जैनेन्द्र से मेरा प्रथम परिचय इसी प्रकार हुआ था। जननी से जिसका परिचय मिले उसके भाग्य से ईर्ष्या होनी चाहिए। आत्मीयता तो जन्म होती ही है। उसके बाद उनकी पुस्तकों ने इस परिचय को और भी पुष्ट किया। एक बार दिल्ली में कम्पनी बाग की किसी सभा में दूर से उन्हें कन्धे पर चादर डाले देखा—इकहरा बदन, मझोला कद, प्रशस्त ललाट और प्रमुख नासिका, बातें करने पर अन्तर में लय हो जाने को आतुर आंखें और तदनुसार कुछ कुछ तनी हुई ग्रीवा—देखता रहा, पर पास जाकर उनसे बातें करने का साहस नहीं पा सका। कहां वे हिन्दी के महान लेखक, कहां एक क्षुद्र पाठक !

पर भाग्य की बलिहारी—एक दिन मैं भी लिखने लगा और साहस इतना बढ़ा कि धीरे-धीरे त्रिवेणी 'हंस' (मुंशी प्रेमचन्द का हंस) तक जा पहुंचा। प्रेमचन्द जी की मृत्यु के बाद मेरी कई रचनाएं उसमें छपीं और तभी जाना, जैनेन्द्रकुमार उसके सम्पादक हो गए हैं। लेख उनकी नजर होंगे। यह सितम्बर 1937 की बात है। एक कहानी दिल्ली के पते पर भेजी और फिर उत्सुक हृदय से उत्तर की प्रतीक्षा करने लगा। यद्यपि नागर साहब ने उस कहानी को अच्छी बताया था, पर मेरे लेखक के लिए तो वह तभी अच्छी हो सकती थी जब 'परख' के पुरस्कार विजेता लेखक उसे अच्छी कहें। आखिर उनके हाथ का लिखा 20 सितम्बर 1937 का कार्ड मुझे मिला—

प्रिय महोदय

कहानी मिली। उसे काशी छपने के लिए भेज रहा हूं। अपनी कहानी में भावना की मुलायमियत थोड़ी कम भी हो जाने दें और उनकी

जगह Purpose का काठिन्य आ जाए तो मुझे कहानी और भी रुचे
लिखत



विनीत—जनेन्द्रकुमा

पत्र का और कुछ भी असर क्या न हुआ हो उसने उस दुविधा क
निश्चय ही दूर कर दिया जो मुझे उनसे मिलने म हो रही थी। म दिल्ल
पहुचा। शायद वह अक्तूबर 1937 के पहले या दूसरे सप्ताह का क
दिन था मैं अपने बडे भाई के साथ दरियागज मे उन निवास स्थान
पर पहुचा। कई क्षण हम जीने के नीच खडे रहे। सयोगवश तभी श्रीमत
*जैनेन्द्र रही से आ रही थी। उनसे पूछा 'जैनेन्द्र जी यही रहते ह ?'*

व बोली ऊपर हैं चलिए।

पर हम आग कस चले? आखिर उन्होने स्वय आगे बढते हुए कहा
'आप झिझकते क्या है? नि सकोच चले आइए।

शायद इस चुनौती ने हमे बल दिया। ऊपर के कमरे मे कई व्यक्तिय
के बोलने का स्वर आ रहा था। और जसे ही हमने अन्दर प्रवेश किय
वैसे ही सबकी दृष्टियां हमारी ओर उठी। मैंने देखा—वह छोटा स
कमरा जिसके एक कोने म एक मेज कुर्सी पडी है, चटाई पर बैठे हु
व्यक्तियों स भरा हुआ है और बीच म टहल रहा है एक इकहरे बद
और मझले कद का व्यक्ति जिसने केवल बनियाइन और जांघिया पहन
है और कधे पर डाला है तौलिया। मैं शक्ल से जैनेन्द्र को पहचानत
था इसलिए यह समझने म कोई कठिनता नही हुई कि घूमनेवाले व्यक्ति
स ही मिलना है। मैंने प्रणाम किया और उन्होने बैठने का सकेत। सा
ही उनकी दृष्टि ने पूछा, 'कहा स आना हुआ ?'

परिचय मेरे भाई ने दिया। नाम सुनते ही जैनेन्द्र जी बोल उठ
'You write remarkably well.' (तुम विशेष रूप से सुन्दर लिख
हो।)

इस वाक्य ने मुझे कितना बल दिया यह निश्चय ही मैं आज शब्दो
मे ठीक ठीक न बता सकूगा। मैं उनके कमरे की अकिचनता को बिलकु
ही भूल गया और यह भी भूल गया कि यही बैठकर—इस व्यक्ति ने अप

साहित्य का निर्माण किया है। एक नये लेखक से इस प्रकार का व्यवहार उन दिनों (आज तो और भी अधिक) निःसंदेह अकल्पनीय सा लगा। उनसे मेरा यह पहला प्रत्यक्ष परिचय था। पहले परिचय की बहुत कहावतें प्रचलित हैं। दो ध्रुवों के अंतर के समान अन्तरवाली 'प्रथम-ग्रासे मक्षिकापात' और Love at first sight (चक्षुराग) जैसी उक्तियां किसी कवि की कपोल कल्पना नहीं हैं। वे किसी मेरे जैसे के प्रत्यक्ष अनुभव का परिणाम हैं। उस दिन मेरा अनुभव दूसरी उक्ति के आसपास था। उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली नहीं कहा जा सकता, परन्तु उन्नत ललाट की छाया में उपन्न नासिका के आसपास अंदर को धंसे से जो दो नयन हैं और जो कहीं दूर झांकते जान पड़ते हैं, आपको पकड़ लेने की उनमें पूरी शक्ति है।

उन्होंने मुझे भी पकड़ा। मेरा भय कम हुआ और मेरी तबीयत में जो जलगाव था उसमें रखने का निमंत्रण लेकर मैं लौटा। लेकिन इससे पहले कि मैं कुछ करने का साहस बटोर सकूं, उन्होंने और भी गहरी आत्मीयता से उस निमंत्रण को दोहराया। एक महीना बाद, नवम्बर 1937 के अंतिम सप्ताह की बात है। शरत्कालीन रात्रि के गहरे सन्नाटे और घने कुहरे ने आच्छादित अपने छोटे से नगर की एक सुनसान गली में मैं टिमटिमाती हुई लालटेन के सामने बैठा लिख रहा था। तब अनायास एक शब्द उस सन्नाटे को आलोड़ित करता हुआ उठा—'विष्णुजी कहां रहते हैं?' मैं कुछ चौंका, फिर भी वह पहली पुकार मैंने अनसुनी कर दी। परन्तु दूसरे ही क्षण वह स्वर फिर उठा, फिर उठा। तब मुझे भी उठना पड़ा। अंधकार में से झांककर मैंने पूछा 'कौन साहब?'

सन्नाटे में वही स्वर गूंजा 'जैनेन्द्र।'

लिखने में मुझे और पढ़ने में आपको देर लगगी, पर मेरे शरीर में ऊपर से नीचे तक सिहरन दौड़ने में देर नहीं लगी—जैनेन्द्र! इस समय? यहां। सोच रहा था और गिरता पड़ता दौड़ा जा रहा था। किवाड़ खोलकर किसी तरह कहा 'नमस्ते। आप इस समय!'

जवाब दिया, 'हां इधर आना हुआ, सोचा तुमसे मिलता चलूं, कहानी पर से तुम्हारी गली का नाम पढ़ा था।

'बड़ी कृपा की आपने ।'

अरे कृपा क्या बला है,' उन्होंने कुछ हँसकर कहा । फिर ऊपर चढ़ते-चढ़ते पूछा 'बड़ा सन्नाटा है ?

जी छोटे शहर में रात जल्दी आ जाती है और फिर यहाँ तो बिजली भी नहीं है ।'

वे वहीं मेरे पास फर्श पर बैठ गए। चारों तरफ मेरा सामान बिखरा पड़ा था । उन्होंने पूछा 'क्या लिख रहे हो ?

मैं तब 'आश्रिता' कहानी लिख रहा था । उसी की चर्चा शुरू हो जाती पर मैंने बात को घुमा दिया । कुछ और चर्चा चल पड़ी । वे बातें करते जाते थे और साथ ही मेरी प्रत्येक वस्तु का निरीक्षण भी । उन्होंने मेरे पेन का जो खुला रह गया था बन्द करके रख दिया । फिर सामने दीवार पर लगे हुए स्वामी दयानन्द तथा महात्मा गांधी जी के चित्रों को देखा और बोले, सफलता तब है जब लेखनी की शक्ति वाणी में आ जाए । लिखी हुई बात में जितनी आन्तरिकता है उतनी ही बोली हुई बात में हो । तब सन्तोष हो ।

शब्द मेरे हैं पर भाव उनका है। स्पष्ट ही उनका लक्ष्य वे वाणी महापुरुष थे । आज जो उनमें प्रवचन देने की या प्रश्नोत्तर पद्धति को प्रोत्साहन देने की प्रवृत्ति है उसके मूल में यही महत्त्वाकांक्षा की भावना है ।

लौटते समय जब मैं कुछ दूर तक उनके साथ गया तो उन्होंने मुझसे पूछा क्या तुम इधर मेरी पुस्तकों के प्रचार का प्रबन्ध करवा सकते हो ?'

मरुभूमि में कोई पानी की माँग करे, ऐसी वह बात थी । इस बात से मुझे कुछ धक्का भी लगा । क्या लेखक को अपना लिखा बेचना भी पड़ता है ? पर यह विषयान्तर है उस क्षण तो उनकी आत्मीयता ने मुझे जीत लिया था । इस पराजय में मुझे सुख मिला । इसके बाद रहा सहा व्यवधान भी जाता रहा और मन में एक निजीपन का आविर्भाव हुआ । उन्होंने पहले पत्र में मुझे 'प्रिय महोदय' कहकर सम्बोधित किया था पर इस घटना के छः सात दिन बाद 'आश्रिता' कहानी पाकर उन्होंने लिखा—

भाई विष्णु जी,

'आश्रिता' कहानी अभी मिली। अभी देख भी ली। बहुत अच्छी मालूम हुई। मुझे स्पर्धा होती है। इतनी सूक्ष्मता हिन्दी में तो देखन को नहीं मिलती। क्या मैं बधाई दूं ।

लगभग साढ़े तीन महीने के अल्प काल में ही 'प्रिय महोदय' से मैं 'भाई विष्णु जी' बन गया। इस आत्मीयता ने मेरे साहित्य को क्या कुछ दिया, उसका मूल्यांकन सहज नहीं है। जिस काल में मेरी हत्या हो सकती थी, उसी काल में मुझे इतना स्नेह मिला। इस गौरव का श्रेय अकेले मेरा नहीं है, जैनेन्द्र जैसे मित्रों का भी है।

पर जैनेन्द्र जो ऊपर से इतने सरल दिखाई देते हैं, क्या वे सचमुच सम्पूर्ण रूप से सरल हैं ? फिर एक घटना याद आ रही है। मई 1938 में मेरा विवाह हुआ था। भाई यशपाल के साथ वे भी बारात में गए। हरिद्वार जाना था। मार्ग में रुड़की के पास नहर के किनारे रुकने की व्यवस्था थी। न जाने कैसे उस पार पत्थर फेंकने की प्रतियोगिता शुरू हो गई और मुझे यह देखकर बड़ा अचरज हुआ कि जैनेन्द्र जी अनायास ही सबसे आगे निकल जाते हैं। यह अचरज मुझे ही हुआ हो सो बात नहीं। अक्सर जब लोग सुनते हैं कि जैनेन्द्र मान हुए खिलाड़ी हैं या सिद्धहस्त तैराक हैं, बहुत अच्छी साइकिल चला लेते हैं तो उन्हें भी सहसा विश्वास नहीं होता। उसका कारण है उनका व्यक्तित्व और उनकी वेषभूषा। वे सादगी से रहते हैं। अकर्मण्य सादगी नहीं, उसका स्थान तो कहीं गन्दगी के आस पास है और महत्त्वाकांक्षी गन्दा नहीं रह सकता। लेकिन हमने सादगी के कुछ अर्थ मान लिए हैं, इसीलिए उन्हें देखकर अक्सर लोगों को धोखा हो जाता है। एक बार एक बन्धु ने किसी का शाल ओढ़ रखा था। उसे देखकर वे बोले, "आपको यह शाल सजता है, खरीद लो न।" दूसरी बार एक मित्र उनके पास इसलिए आए कि वे उनके साथ चन्दे के लिए चलें। उन्होंने पूछा, "कितने चन्दे की बात है ?" बात बहुत बड़ी नहीं थी। वे बोले, "आप मुझसे दस बीस की क्या बात करते हैं ? हजार दस हजार की कहिये। तब मैं आपके साथ चल सकता हूं। एक बार फिर किसी

सम्बन्ध म उन्हान कहा था क्या बताऊ सकेण्ड क्लास म ट्रैवेल करन की आदत पड गइ है। इधर उन्हें वायुयान प्रिय हैं। तो यह सब अस्वाभाविक नहीं है। य घटनाए उनकी दिखाई देनवाली रहन सहन की सादगी के पीछे जो गहरी महत्त्वाकाक्षी छिपी हुई है उस उभारती है।

साहित्य का चर्चा करत हुए उन्हान मुझस कहा था कि धर्म विचार म मैं सैक्स और अथ इन दोनो को ही मनन और अन्वेषण का विषय मानता हू। पौध क दो भागो की तरह सक्स जड की भाति धरती क नीच पनती है और अथ पत्र पुष्प क समान धरती क ऊपर फलता है। उनक जीवन म जो जटिलता है उसका कारण इन शब्दो म उपस्थित है। जैनेन्द्र या अहिसा म विश्वास करत है अहिसा और महत्त्वाकाक्षा का मल कसा? अनहोनी सी बात लगती है पर जो साध सकता है उस साधक क लिए अनहोनी कुछ नही है। जनन्द्र इस दृष्टि स साधक हैं। वे युद्ध म सदा निडर और तूफान म सदा शान्त रहन का प्रयत्न करत है। उनपर हमला होता है तो व कभी उग्र रूप धारण नहीं करत। अन्दर स उबलकर भी व शान्त रहना चाहत है पर व बदला न लेत हो, सो बात नही। व बदला लत है ऐसा लत ह कि हमलावर तिलमिला उठता है उसी तरह जिस तरह व तिलमिलाए थे। तिलमिलात न तो बदला कैस लेत? दिल्ली की सुप्रसिद्ध साहित्यिक सस्था 'शनिवार समाज' म उनपर एक लख पढा गया था। अनजान ही वह कुछ अस तुलित हो गया था। उनक व्यक्तित्व पर काफी करारी चोटें थी। उन्हान उसका उत्तर दिया यद्यपि दना चाहत थे। उस उत्तर की एक बात मुझे याद ह। उन्हाने कहा था कि इस लेख म मैंन अपन चेहर को तो देखा ही पर साथ ही आलोचक को भी देखा।

आलोचक पर यह हथौड की चोट थी। आलोचक यदि अपने लेख म रह जाता है तो उसका अध्ययन विषयगत (Objective) न होकर आत्मगत (Subjective) हो जाता है। उस यह अधिकार नही है।

जनन्द्र को उत्तर दना आता है। और उसम जो अथ गर्भित रहत हैं वे सुननवाल क दिल को पकड लत है यह उनकी प्रतिभा का प्रसाद है और इसी प्रसाद के कारण उनक साहित्य म प्राण है। अगस्त 1950

की बात है। रेडियो स्टेशन पर उनकी नियुक्ति की चर्चा चल पड़ी थी। लोग तरह-तरह की बातें करते थे। मैंने भी उनसे पूछा, 'सुना है आपकी नियुक्ति रेडियो-स्टेशन पर हो रही है?'

वे बोले, 'ऐसा तो हो ही नहीं सकता।'

'क्यों?'

'क्योंकि हम रेडियो में जाएंगे नहीं, रेडियो पर हम कोई बुलाएगा नहीं। क्योंकि रेडियो रेडियो है, हम हम हैं।'

इस प्रखरता की एक और घटना याद आ रही है। सुना है कि एक बार कुछ मनचलों ने एक आधुनिक क्लब में हो रही भरी सभा में उन्हें छकाने के लिए प्रयत्न किया। कहा, 'आप शराब नहीं पीते। उसमें क्या दोष है?'

सभा सभ्य लोगों की थी और सभ्यता वह प्राचीन न थी। जैनेन्द्र जी ने कहा 'दोष शायद यही है कि उसका नशा उतरता है।'

पर यह प्रखरता तो असिधारा व्रत के समान है। असन्तुलन का अर्थ स्पष्ट मृत्यु है और कोई सौभाग्यशाली मृत्यु से बच भी जाए, परन्तु घातक जख्मी का शिकार तो वह होगा ही। दिल्ली में उन्होंने हिन्दी परिषद का आयोजन किया था। एक बंधु जो हृदय रोग से पीड़ित थे अचानक अस्वस्थ हो गए। मुझसे अधिक वे उनके आदमी थे। मैं तब अकेला ही रोगी के पास था। मैंने जैनेन्द्र जी को सन्देशा भेजा। उनका घर दूर नहीं था पर वे नहीं आए। सौभाग्य से वे बंधु इस योग्य हो गए कि उन्हें घर छोड़ आया जा सकता था। वैसे वे बंधु स्वयं बड़े साहसी थे, पर मैं जैनेन्द्र जी के न आने से बड़ा क्षुब्ध था। उन बंधु को घर पहुंचाकर मैं उनके पास पहुंचा और न आने का कारण पूछा। उन्होंने कहा 'मैं आता भी तो क्या करता? करनेवाला तो भगवान् था। फिर तुम थे।'

माना उनका तर्क गलत नहीं था पर दुनिया तो इस तर्क के सहारे नहीं चलती। आत्म की ऊंचाई के पीछे छिपकर छुपी नहीं पाई जा सकती। इसीलिए सब गड़बड़झाला है। इसीलिए व्यवहार और आदर्श में अन्तर है। अन्तर ही अन्तर है, पर क्या इसके लिए उन्हें दोष देना होगा? मनुष्य का दोष देने का नहीं, दोष स्वीकार करने का अधिकार है। स्वयं जैनेन्द्र

यही मानते है । उन्हे भी इसी दृष्टि से आकना उचित है । असाध्य आदर्श की साधना तपस्या है तपस्या म पतन की गुजाइश अधिक रहती है, पर इसी कारण जो तपस्या स डरकर बठा रह जाय, उस अभाग स तो गिरने वाला लाख बार बडा है ।

जनेन्द्र आलसी कहे जाते ह । असल म बात यह है कि मस्तिष्क की असाधारणता उनके हाथ पर नही चलने देती । शरीर म मस्तिष्क की अधिनायकता है । मुझे याद है शीत ऋतु म किसी दिन वे मेरे बडे भाई और मैं तीना सवेरे लगभग 9 10 बजे बठ तो सन्ध्या को 6 बजे तक बातें ही करत रहे और यही क्या उस दिन हिन्दू कालेज की एक सभा म ता उन्हाने अपनी अकमण्यता का सुन्दर परिचय दिया । वे सभापति थे । हाल खचाखच भरा हुआ था । वे भाषण देने खडे हुए । माग हुई, कहानी सुनाइय । जवाब मिला अच्छी बात है ।

और जब तक मैं कुछ सोचू उन्होने बोलना भी शुरू कर दिया । उस बातचीत कहना ठीक होगा । उनका और उनकी पत्नी का काई झगडा था देर स आन और भाजन न करने का घर घर होनेवाला झगडा पर जिस ढग स उन्होन उसका वणन किया उसस वह विद्यार्थियो स भरा हुआ हाल हँसी स बराबर आ दोलित होता रहा ।

ऐस व्यक्ति को और कुछ भी कहा जा सकता है पर आलसी नही कहा जा सकता । लेकिन आलसी वे न हा पर अव्यावहारिक अवश्य हैं और एक सीमा तक असहिष्णु भी । असहिष्णु इस अथ म कि उन्हे विरोधी म काम लेना नही आता । उसपर योजनाए बना लेने है बहुत बडी बडी । उनकी सभा परिषदें इसी अव्यावहारिकता की शिला पर खण्ड खण्ड हो गयी कि व दूसरे के दृष्टि विन्दु को स्वीकार नही करेंगे और सबस अपनी शर्तों पर काम करवाना चाहगे । पर यह कहना कि वे अविश्वासी हैं उनके प्रति अन्याय करना है । पर साथ ही यह भी सच है कि अव्यावहारिक आदमी म सब दोप समा जात हैं । उनको टिकने का स्थान भी मिल जाता है ।

जनेन्द्र जो नही है वह बनना चाहत हैं पर उसके लिए जो शक्ति चाहिए वह उनके पास नही है । शक्ति स अधिक प्रवृत्ति का अभाव है,

इसलिए गडवड है। जन द्र क जीवन म यही उलझन है, यही सघष है। पर "र्यावत जन द्र की जा असफलता दिखाई दती ह आलोचक लाग लखक जने द्र की वही मफलता बतात है। इनके साहित्य म असाध्य को साधन की पुकार ह प्रयत्न भी है, पर किसी दिन व सुलझ सकता उनका साहित्य युग युग का स न्देश वहन की क्षमता प्राप्त कर सकता है।

जन द्र जी न किसी विद्यालय म शिक्षा नहीं पाई। जो कुछ उनके पास है वह स्वय उपार्जित है। इसका कारण उनकी प्रतिभा है और प्रतिभा अ तर की शक्ति है। शेक्सपियर, डिकन्स गोल्डस्मिथ बालजक और टगोर इत्यादि एसी ही प्रतिभासम्पन्न लेखक थ पर जैनन्द्र की साहित्य *प्रतिभा म दाशनिक की सी एक अजीब उलझन है कभी कभी वह इतनी* जटिल हा उठती ह कि पाठक उसे भेद नहीं पाता— कहा पार नहीं, कहो किनारा नहीं। आख के ठहरन का कोई सहारा नहीं। लकिन यह जटिलता कवल जैनन्द्र की कलम म ही यह बात वे स्वीकार नहीं करत। यह ता "सी दुनिया की गडवड ह—'सब गडबड ही गडबड है। सष्टि गलत समाज गलत। जीवन ही हमारा गलत। सारा चक्कर यह ऊटपटाग। पाठक की आखें इसे कभी नहीं दखती। उसके जीवन म इतना सघष कहा ह जा वह साहित्यिक जनन्द्र को पा सके! जा जीवन म है वही साहित्य म है। तभी जनता को पहचानकर भी जैने द्र जनता से दूर है। इसीलिए पाठक उनमे उतनी श्रद्धा नहीं रखता जितना उनक नाम का आदर करता है।

उलझन का एक और कारण ह। उनके चित्र मे रग गहरे नहीं होत। वस्तुत म तो छायाचित्र बनकर रह जात ह। फिर विचारो का बाहुल्य (मस्तिष्क के अधिनायक व के कारण) उनकी कहानियो का बोझिल बना दता है। उनकी चासनी का रस सूखता जा रहा है। भाषा भी एक बडा कारण ह। उनके पीछे जो अहम है उसे चीरकर कोई विरला ही भीतर पैठता है। जा पैठता है वह शांति पाता है। दूसरे लोग अशान्ति मोल लेकर उन्हे कोसत हैं।

लकिन कुछ भी हो जन द्र जन द्र है। शब्द वाक्य भाव भाषा और शैली सबपर जनेन्द्र की छाप है। उनके भीतर शक्ति का स्रोत है पर

तथाकथित अकमण्यता (तथाकथित इसलिए कि मूल म व महत्त्वाकाक्षी है) के कारण उ होंने अनुपात म बहुत कम लिखा ह । उनकी दृष्टि पनी और बुद्धि नया सृजन करनवाली है । सग्रह और अनुवाद उनक स्वभाव के अनुरूप नहीं हैं। अनुवाद तो उनकी अपनी रचना क जैसा हा जाता है। अध्ययन की शक्ति भी उनम उतनी नहीं ह। वे निर्विवाद रूप स एक मौलिक कलाकार ह और उन्होंने साहित्य मे एक मौलिक शली का निर्माण किया ह ।

जन द्र जी के प्रशसक और निन्दक दोनो यथष्ट है। इधर उनके आलोचकों की सख्या बढती जा रही है। उनका आक्षप है कि आज की कोई भी समस्या उ हे आकर्षित नहीं कर सकी। बगाल का अकाल, विश्व महायुद्ध साम्प्रदायिक हत्याकाण्ड कोई भी उ ह विचलित नहीं कर सका। नइ पीढ़ी की शिकायत है कि व प्रगतिशील नहीं ह । पुराना की शिकायत ह कि उन्होंने सक्स के विकृत रूप का प्रचार किया है। यह सभी का शिकायत है कि वे समाप्त हो रहे हैं। कभी कभी व स्वय भी कह दत हे 'हम लगता है कि हम समाप्त हो रह है ।

परन्तु यह सत्य नहीं है। प्रतिभाशाली कभी समाप्त नहीं होता, मृत्यु के बाद भी नहीं। जीवन म ता वह किसी भी क्षण चमक सकता है। शन कवल अकमण्यता पर चोट करन की है। कलाकार यदि युग की उपेक्षा करता ह तो वह युग का निमाण भी करता है। जनन्द्र के विचारो मे वह आग है जिसपर राख पडती जा रही है पर वह झाडी भी ता जा सकती ह । जैनेन्द्र का उदय धूमकेतु की तरह हुआ था और आज भी पर देर स सही—धूमकेतु फिर भी ता उदय हो सकता है ।

और धूमकेतु क्यो ? नभ का झिलमिलाता हुआ एकाकी तारा क्या पथिक को राह नहीं दिखा सकता ?

# श्री सियारामशरण

1

दिसम्बर 1937 की बात है। मैं 'जीवन सुधा' के सम्पादक भाई यशपाल से मिलने उनके कार्यालय में गया था। बातों बातों में वे बोले, 'सुना, आज सियारामशरण जी आए हुए हैं।'

मैंने अचरज से कहा 'सियारामशरण जी यहाँ हैं?'

'हाँ! आओ उनसे मिलकर जाना।'

मैं दुविधा में पड़ा—सियारामशरण जितने बड़े कवि, मैं उतना ही छोटा लेखक! न जाने क्या मेरा जी नहीं किया। मैंने कहा 'मुझे काम है। फिर आऊँगा।'

यशपाल बोले 'अरे ऐसा भी क्या काम है, आओ।'

और मुझे जाना पड़ा। उनके बारे में तबतक मैं बहुत कुछ पढ़ चुका था। 'विशाल भारत' में प्रकाशित उनका चित्र तो मुझे बहुत ही प्रभावशाली लगा था—उन्नत ललाट, उदार स्थिर दृष्टि और सबसे अधिक चेहरे का भोलापन! मैंने सोचा—कितना सुन्दर होगा यह कवि! और तब मैंने मृण्मयी की, जो तभी प्रकाशित हुई थीं, कविताएँ गुनगुनाते हुए उनके कई मनमोहक चित्र अपने मानस पट पर खींच डाले। लगा—उनके उन्नत ललाट पर रामानन्दी तिलक है, सिर पर पतली सी चोटी है, वे सफेद खद्दर की धोती कुरता पहने हैं, उनकी आँखों में... तभी जीने में चढ़ते चढ़ते यशपाल बोल उठे 'देखिए मामा जी, विष्णु आये हैं।'

'आइए आइए' की ध्वनि हुई और मैंने देखा कि जैनेन्द्र जी सामने

बैठे हैं। उन पास ही उकड़ू में बठे एक वृद्ध पुरुष कोई पुस्तक या पत्रिका देख रहे हैं। आहट पाकर उन्होंने मेरी ओर देखा और मैंने उन्हें। सहसा मन में उठा—काल चक्र के थपेड़े खाया हुआ यह व्यक्ति कितना थक गया है।

ठीक इसी समय जैनेन्द्र जी ने कहा आप सियारामशरण हैं।

बिजली सी कौंधी। मैंने सभलकर देखा—ये सियारामशरण! सियारामशरण यह! नहीं! यह तो उस चित्र की छाया भी नहीं। सिर पर रूखे उलझे बाल या जंगल। मोटे खद्दर का कुरता और घुटनों तक की धोती और शरीर जैसे जीवन विहीन किसी निर्विकार भार से दबा हुआ!

2

जैनेन्द्र जी ने दिल्ली में जो साहित्य परिषद् बुलाई थी, उसकी घटना है। संयोजक महोदय चाहते थे कि सभापति के समर्थन में सियारामशरण जी का नाम रहे। उनसे प्रार्थना की गई लेकिन वे तो कांप ही उठे हम! लोगों ने तर्क किया—आपको केवल समर्थन करना है। लेक्चर नहीं देना। वे बोले हम तो कभी बोले ही नहीं। कैसे कहेंगे!

और कहते कहते वे जैसे कांप से उठे!

मैंने सोचा इतना बोदा, इतना कमजोर व्यक्ति! छि छि!!

और उनसे मैंने कहा, 'आप खड़े होकर केवल इतना कह दीजिए कि मैं सभापति पद के लिए श्री मशरूवाला जी के नाम का समर्थन करता हूं। बस!'

उन्होंने यही कहा और मैं देख रहा था—वे एक एक शब्द पर कांप रहे थे उनकी मुद्रा साफ साफ कह रही थी—हम भी क्या इतने बड़े काम के योग्य हैं?

यह विनम्रता थी या आत्म निषेध?

फिर उन दो तीन दिनों में मैं कई बार उनके नजदीक बैठा। बातें की, उन्हें समझा, तब जाना कि यह जो व्यक्ति सियारामशरण इतना झुका लगता है, यह निर्बल का झुकना नहीं है बल्कि यह उस शक्तिशाली

पूछना है जो अपनी शक्ति से बराबर इनकार किये जा रहा है और जो मानता है कि वह एक क्षुद्र एक छोटा सा नगण्य जीव है।

सियारामशरण बोलते नहीं हैं। उन्हें कोई ठग नहीं सकता, पर तु साथ ही वे भी किसी को ठग नहीं सकते। चाहें तब भी नहीं। वे इस विद्या में कोरे हैं। वे जो कुछ हैं यह है कि उन्हें विश्वास है कि वे कुछ भी नहीं हैं और इसी नकारात्मक अस्तित्व में उनका बड़प्पन है। इसलिए उनकी शान्ति शान्त है और उनका विद्रोह विनयी है।

परन्तु अपने में उन्हें जितना अविश्वास जान पड़ता है, दूसरे में उतना ही विश्वास है। यह प्रकृति आत्म दान से उपजी है। इसी से उनका अपने में इतना घोर अविश्वास अखरता नहीं है और दूसरों में विश्वास उनके प्रति श्रद्धा पैदा कर देता है।

सियारामशरण दर्शन में बीसवीं सदी में वैदिक युग के मॉडल जान पड़ते हैं, उनकी प्रवृत्ति भी धार्मिक है। यह प्रवृत्ति कभी कभी बड़ी उग्रता से जाग पड़ती है पर उग्रता तो उनके स्वभाव में रह ही नहीं सकती। इसलिए ऐसे समय पीड़ा उन्हें घेर लेती है। बहन सत्यवती मल्लिक की ओर से दी गई चाय पार्टी में श्री 'अज्ञेय' ने फिल्म लेने का प्रबन्ध किया तो सियारामशरण जी की धार्मिक भावना जैसे तड़प उठी, वात्स्यायन जी! यह क्या करते हैं आप?

सियारामशरण ने अपने जीवन में बहुत कष्ट उठाए हैं। प्रियजनों के वियोग की मानसिक पीड़ा और चिरसंगी दमे की शारीरिक यातना ने उन्हें बरबस तपस्वी बना दिया है। परन्तु इसी व्यथा के भार से दबकर वे इतने प्रेरणा और प्रोत्साहन से भर उठे हैं। निस्सन्देह उनके ये अभिशाप जग के लिए वरदान बन गए हैं। 'जहाँ पीड़ा है वहाँ पवित्रता है।' यह प्रसिद्ध उक्ति सियारामशरण की जीवन रूपी अनुसंधानशाला में पूरी तरह प्रमाणित हो चुकी है। सियारामशरण विनयी इतने हैं कि यदि कोई उनकी ठीक बात में दोष निकाले तो वे मान लेंगे—गलती हो सकती है। क्योंकि वे मानते हैं वे निर्भ्रान्त नहीं हैं। जो निर्भ्रान्त नहीं है, वह कभी भी गलती कर सकता है! और कोई उनसे कहे कि आपकी अमुक रचना बड़ी सुन्दर है तो क्या कहनेवाला उनकी आंखों से बहनेवाली तरल

तनना का सह सकेगा ? लज्जा स उनकी आखें स्वय झुक जाएगी। तनी निश्छलता इतना आत्म दान लेकिन इतना कुछ दकर भी व स्वय छूछे रहत हैं।

व्यक्ति सियारामशरण जितना झुका है, कवि उतना ही ऊपर ही ऊपर उठा जा रहा है। उसने अपने मे डूबकर वेदना की कूची स वे चित्र अकित किय हैं जिनम रोज का जीवन है, उपेक्षा है पीडा है वेदना है कसक है पर आरोप कही नहीं है, चेतावनी भी नही। मात्र सकेत है जो सीधा हृदय म जा बठता है। क्योकि उसके पीछे स्वय कवि का अनुभव मूर्ति मान हो उठा है। मानो कवि कहता है कि मुझे देखो और समझो। मेरे मुह म मेरी कथा सुनने की आशा मत करो। इसी म व बोलत कम है सुनना ज्यादा चाहत हैं। जीवन या साहित्य, सब जगह व विशुद्ध मानवता-वादी हैं।

सियारामशरण जी की ज्ञान पीपासा बडी तीव्र है। ज मजात प्रतिभा न होन पर भी वे इतने बडे कवि बन गए है। व श्राप के सहारे ही अंग्रेजी के बडे बडे कवियो की रचनाए पढ लेत हैं। एक बार मैं उनस कह बठा, 'आपका रेखाचित्र लिखने की बात जी म उठी है।'

उन्होने उत्तर दिया 'बात उठी है तो दबा न दीजिए। किसी के लिए उसका रेखाचित्र एक दपण के समान होता है। व्यक्ति अपना चेहरा उसम देखकर सुधारने का अवसर पाता है। आत्म सुधार की इस प्रवत्ति ने उन्हे सदा ऊपर उठाया है।

गहन-गम्भीर विषयो की बहस म, अथवा राजनीति की दलदल म उनका मन नही लगता। धारा सभा का अधिवेशन या नइ दिल्ली की सर उ हे अधिक प्रिय है। कवि जो ठहरे। व मानत हैं कि अनानी रह-कर ता वे कुछ सीख सकते है। इसी कारण लाग उन्हे गलत समझत हैं और इसी कारण वे बहुत दिनो स उपेक्षा के पात्र बन रहे।

बात यह है कि मूलत सियारामशरण जी बौद्धिक नहीं है। उनकी मौलिकता परिश्रम और स्वाध्याय की मौलिकता है। विनय ने उनम स्वाध्याय की प्रवत्ति पैदा कर दी है। इसी क

प्रतिभा को बल मिला है बुद्धि से नही। बुद्धि के सहारे वे आत्म निषेध की भावना को नही पा सकते थे। बुद्धि अहम को अस्वीकृत नही कर सकती और न इकाई को मलने ही देती है।

परन्तु सियारामशरण जी आत्म निषेध की इतनी प्रबल भावना को लेकर भी बुद्धि मे नफरत नही करते। उनका नारी' उपन्यास पढ मैंने उ हे अनेक वातो के साथ लिखा था, मुझे लगता है कि चिट्ठीवाली बात कुछ उलझन म फस गयी ह।'

उन्होन उत्तर दिया यह हो सकता है, पर पाठक उलझन मे फसे, यह तो तुम चाहाग ही। उलझन म फम बिना वह लखक को जान ही कैम सकगा ?' यानी उलझन को सुलझान क प्रयत्न म ही पाठक लेखक को पहचानेगा यह उनका तक था। मैंने सोचा—यह आदमी कुछ भी हो, बाहर का नही है, अन्दर का है।

तो ऐस हैं सियारामशरण जी जिन्हे काल पुरुष न पीडा के पालन म डाल कर खूब झुलाया है। वे शरीर से जजरित और आत्मा से व्यथित है पर फिर भी क्रोध स अछते हैं। वे अखण्ड विद्रोही हैं पर दाहकता म रिक्त हैं। रक रुककर निकलनवाली सास के कारण उनकी वाणी गम्भीर है। वे दखन म जरूरत म ज्यादा ग्रामीण मालूम होत ह पर उनका हृदय सौज य और साहाद मे परिपूण है। उनके नत्र पील पड गए है पर अनुभूति और अनुराग उनम बराबर छलकत रहत ह।

और इसी कारण व स्वय एक कुशल कवि एक कमठ कलाकार तथा दूसरा के लिए साकार प्रेरणा बन गए ह।

# आचार्य किशोरीदास वाजपेयी

लगभग चालीस वष पुरानी बात है। कनखल के बाजार म गुजर रहा था कि दष्टि तागे म अकले बठ एक प्रौढ सज्जन पर जाकर ठहर गइ। वह कुछ उत्तेजित थे और किसी विरोध प्रदशन को लेकर विज्ञप्तिया बाट रहे थे। विशुद्ध भारतीय वेशभूषा कठार दष्टि और रोज प्रकट करती मूछें —मेरे साथी न बताया, 'देखो यह है प० किशोरीदास वाजपेयी।

उन्ही की चचा तो मैं कर रहा था। गदगद होकर बोला 'मैं इनसे मिलूगा।

मिल लना दुर्वासा के अवतार हैं। हमेशा युद्ध छेडे रहते है।

तब से लेकर आजतक उनके बारे म यही कुछ सुनता आ रहा हू। रुद्र-रूप परशुराम और दुर्वासा के अवतार चुनौतिया देते हैं और ध्वस करते ह।

लेकिन रुद्र दुर्वासा परशुराम सब ही तो शकर से जुडे रहे थे और शकर शिव भी है औघडदानी, भोले भण्डारी। वे ताण्डव नत्य करत है तो वर भी दत है। जो अकल्याणकर है उसका नाश करत है। जो कल्याण-कर है उसका निर्माण करत ह। डा० राममनोहर लोहिया स एक बार मैंने पूछा था, आप मात्र ध्वस की बात करते रहते ह। निर्माण के बारे मे नही सोचत ?

एक क्षण मौन रहकर तीव्र स्वर म उन्होने कहा था, पहले ध्वस कर लू, तभी तो निर्माण होगा।'

तो हर निर्माण से पहले ध्वस अनिवाय है। ध्वस और

ही प्रक्रिया के दो रूप हैं।

वाजपेयी जी के जीवन का सम्यक् अध्ययन करने पर पता लगेगा कि उनकी मूल प्रवृत्ति में निर्माण की ही कामना निहित है।

प्रथम 'विश्व हिन्दी सम्मेलन' के अवसर पर किसी प्रसंग में जब डाक्टर विजयेन्द्र स्नातक ने घोषणा की कि हिन्दी वर्तनी की समस्या लगभग सुलझ गई है तो दर्शकों की अग्रिम पंक्ति में बैठे वाजपेयी जी तीव्र प्रतिवाद करते हुए उठ खड़े हुए बोले 'लगभग नहीं, मैंने उसे पूरी तरह सुलझा दिया है।'

डाक्टर स्नातक ने बड़े आदर के साथ अपनी बात समझानी चाही क्योंकि पूर्ण तो कुछ नहीं है, पर वाजपेयी जी अडिग थे और अपनी बात कहते कहते वे मंडप से बाहर चले गए। इस घटना को सम्मेलन के विरोधियों ने बहुत उछाला। वाजपेयी जी यदि ध्वंस में विश्वास करनेवाले होते तो इस बात में बड़े प्रसन्न होते परन्तु उन्होंने इस प्रवृत्ति का विरोध करते हुए सम्मेलन को अभूतपूर्व सफल घोषित किया।

वाजपेयी जी का प्रारम्भिक जीवन त्रासदायक घटनाओं से जूझते बीता है। बहुत कच्ची आयु में माँ तथा अन्य प्रियजनों का विछोह सहना पड़ा उन्हें। फिर क्या नहीं किया उन्होंने! भैंसें चराईं, चाट बेची, मिल में मजदूरी की, पर सरस्वती मन्दिर की पुकार अनसुनी न कर सके। उनका कार्यक्षेत्र अनेक करुण कहानियों से आप्लावित है तथा उसके बाद का भारत के अनेक नगरों को अपने में समेटे हुए है। गोविन्द से किशोरीदास बनने तक की कहानी संघर्ष की अद्भुत कहानी है। अन्त में आकर जीवन की नौका कनखल की गंगा के किनारे आकर लगी।

कनखल साधारण नगरी थोड़े है। यहीं पर तो शिव ने अपनी प्रिया सती के आत्मदाह से क्रुद्ध होकर प्रजापति दक्ष के यज्ञ के साथ स्वयं दक्ष का भी ध्वंस कर दिया था। वाजपेयी जी भी हिन्दी में फैली अराजकता को भाषा और साहित्य का अपमान समझते हैं इसीलिए उसके प्रतिकार में निरन्तर खड्गहस्त रहे हैं लेकिन उनका खड्ग मात्र वाणी या शब्द के माध्यम से नहीं कर्म और नव निर्माण के द्वारा ध्वंस करता रहा है। पुरानी स्थापनाओं को हटाकर उन्होंने तर्क सम्मत नयी स्थापनाएं करने की

चेष्टा की है। इसलिए कनखल अब मात्र दक्ष यज्ञ के कारण ही नहीं स्मरण किया जाएगा आचार्य वाजपेयी के कारण भी उसका महत्त्व आंका जाएगा। आधुनिक युग के इस पाणिनि को लोग कनखल की विभूति के रूप में सदा याद रखेंगे।

कनखल मेरी ससुराल है। मेरी पत्नी के भाइयों के वे गुरु रहे हैं। और गुरु भी ऐसे जो अपने आप में विद्या का निवास मानते हैं, लेकिन मेरे लिए कनखल का वही महत्त्व है जो शिव के लिए हिमालय का और विष्णु के लिए सागर का। इसलिए भी वाजपेयी जी मेरे लिए आदरणीय हैं। दिल्ली में एक बार मैंने उनसे निवेदन किया, वाजपेयी जी ! मेरे घर चरणधूलि नहीं डालेंगे ?'

मुस्कराकर उन्होंने उत्तर दिया 'प्रभाकर जी आपके घर चलने का अर्थ है पर आऊंगा किसी दिन।

उनके अनेक राजनीति और धर्म सम्बन्धी मन्तव्यों से मेरा गहरा मतभेद रहा है झुंझलाया भी हूं पर उनके अगाध ज्ञान के प्रति मैं नत मस्तक हूं, पर ज्ञान भी अपने आप में सब कुछ नहीं है। ज्ञान रुक जाता है तो बुद्धि ठहर जाती है। वास्तव में मैं उनकी कर्मठता लगन और साधना के प्रति श्रद्धानत हूं। वह पाणिनि हो या न हो तपस्वी और निर्भीक साधक निश्चय ही हैं। चित्तमुक्ति साधना की पहली शर्त है।

'ब्राह्मण सावधान, का उत्तर हो या अच्छी हिंदी का या शब्दानुशासन या रस और अलकार हो वह अपनी बात बिना किसी छल छन्द के पर शालीन और तर्क सम्मत भाषा में कहते हैं। कूटनीति में वह बहुत दूर हैं। वह निखट सत्य बोलने में विश्वास करते हैं भले ही वह अप्रिय हो। वह उनकी असमर्थता हो सकती है अपराध नहीं।

काश वे कुनैन पर चीनी की चाशनी चढ़ाना जानते ! पर तब वे आचार्य किशोरीदास वाजपेयी न रहते। हरेक का अपना व्यक्तित्व होता है। उसी से उसकी पहचान होती है। भीड़ में कौन किसको जानता है ! जाना उसी को जाता है जो लीक से हटकर चलने का साहस करता है।

वाजपेयी जी कठोर हैं, पर जो कठोर है उसके अ तर में `

वैस ही समाई रहती है जस पवत म पयस्विनी। जा कामल नही है वह विनादप्रिय हो ही नही सकता। श्रद्धय पुरुषोत्तमदास टण्टन के सम्मान के लिए राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद प्रयाग गए, तभी की एक घटना स्मरण हो आई है। साहित्यकारा की एक अनौपचारिक सभा म हास्य विनाद का वातावरण चरम सीमा पर था। मूछो को लेकर सभी मजेदार ससमरण सुना रह थे कि वाजपयी जी वाल उठे 'भाइया, एक वार मैंन भी आजकल के बछडो की तरह मूछें मुडवा दी थी।'

चकित विस्मित एक व धु न पूछा, आपन मूछें मुडवा दी, सच ?'

दूसरे साहित्यकार बोल, फिर हुआ क्या ?'

वाजपेयी जी ने उत्तर दिया, होता क्या ! पत्नी न घर म ही नही घुसन दिया। बोली मरद की पहचान मूछें ही तो होती है।'

फिर ?

हँसी के ठहाके के बीच वाजपेयी जी बोले, फिर क्या दख ही रह हो मूछें लौट आई है।

पता नही यह रसिकता दुर्वासा या परशुराम म थो या नही पर शकर महाराज म भरपूर थी, इसीलिए वाजपेयी जी की सही पहचान दुर्वासा और परशुराम के माध्यम म नहीं, दक्ष सहर्ता शकर के माध्यम स ही हो सकती है। यू डॉ० सीताराम चतुर्वेदी ने मूछ रखने का एक रहस्य यह भी बताया है कि जब वह दूध पीते हैं तो सारी मलाई छनकर निखालिस दूध पट म जाता है।

उत्तर प्रदेश सरकार ने जब दस हजार रुपय की राशि दकर उनका सम्मान किया ता वे उस लेन मच पर नही गए। स्वय प्रधान मन्त्री ने नीचे आकर उनको सम्मानित किया। इस घटना को लेकर भी बहुत ऊहा पाह मचा। लेकिन मेरी राय म उनका यह प्रतिरोध सही था। सम्मान लिया नही जाता दिया जाता है। आधुनिक युग का पाणिनि व्याकरण की इस भूल को कस नजरअन्दाज कर सकता था।

लेकिन भारतीय भाषा विज्ञान के रची जपेयी जी भा विज्ञान के क्षत्र म ही शुद्धता के पक्षपाती नही स ही सक्रिय रहे हैं। पर दु ख कातर दे

पहचानते हैं। वे कारागार में रहे हैं उनकी पुस्तक जब्त हुई चुनाव भी लड़ा है, पर पैसे के अभाव में जो हो सकता था वही हुआ लेकिन उस क्षेत्र में भी वे उग्रपंथियों के साथ रहे। वास्तव में उनके अन्तर में धधकती अग्नि ने ह सदा अन्याय का प्रतिकार करने को उकसाती रही। उनमें बहुत सी बातों में तीव्र मतभेद हो सकता है पर इस बारे में दो राय नहीं हो सकती कि ऐसा व्यक्ति न चाटुकारिता का शिकार हो सकता है न किसी प्रलोभन का। वह होता है बस सतत निस्पृह और निर्भीक योद्धा। ऐसे योद्धा की ओजस्वी वाणी ही भविष्य के पथ को आलोकित करती है।

उसी निर्भीक योद्धा को मेरे विनम्र प्रणाम!

# श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

एक और चिता धधकी। लपटें उठी धुए की लकीरो ने एक और कहानी लिखी। एक और अकेलापन शात हो गया।

शांतिप्रिय द्विवेदी हिंदी साहित्य के एक ऐसे चरित्र थे जो हमेशा अनबूझ पहेली बने रहे। स्वभाव मे अत्यन्त सहज सरल। निष्कपट इतने कि प्रतिक्षण मूर्ख बनने को तैयार रहते। जो सीधा सरल है वही तो मूर्ख है! आज के साहित्य मे अकेलेपन और अजनबीपन की बडी पुकार है। शांतिप्रिय द्विवेदी व्यवसायी साहित्यिको और तथाकथित मित्रो की लम्बी भीड मे सही माने मे अजनबी और अकेले थे। इकसठ वर्ष के अपने जीवन मे शायद ही कभी उन्होने उस अपनत्व को अनुभव न किया हो जिसका आधार हार्दिक स्नेह है। परिवार मे मात्र एक बहिन थी, जिससे उन्होने मा की ममता और बहिन के स्नेह को एक साथ पाया। लेकिन वह भी बहुत दिनो तक अपने इस बावरे भाई की देखरेख नही कर सकी। मा के अभाव मे असह्य कष्ट उठाकर इसी साध्वी बहिन ने इनका लालन-पालन किया। शांतिप्रिय द्विवेदी इस निष्कपट स्नेह को कभी नही भूल सके। उसकी चर्चा करने पर वे न जाने किस लोक मे खो जाते थे।

उन्हे मैने पहली बार सभवत दिल्ली मे भाग की दुकान पर अकेले खडे देखा था। अन्तिम बार भी वाराणसी मे भाग की दूकान के सामने देखा। चारो ओर से प्रताडित होकर जैसे वही उन्हे शान्ति मिलती थी। जैसे वे अपने ही मे खो जाने को आतुर रहते हो। काश वे खो सकते! लेकिन उनमे सदा एक तडप रही—कुछ पाने की, कुछ करने की। पान

के प्रयत्न म उन्ह सदा लाछना और उपेक्षा मिली। इकसठ वष तक अभाव और उपेक्षा के भवर मे वे माना अपने अभिशप्त जीवन का भार लिये तिनके की तरह मडराते रह। देने क नाम पर उस अपढ-अनपढ न इतना-कुछ दिया कि हिंदी-साहित्य के इतिहास म उसका नाम सदा के लिए अकित हो गया।

मात्र हड्डियो का एक ढाचा खादी का लम्बा कुरता धोती, टापी और आखो पर मोटे लेंस का चश्मा, पैरो म चप्पल—प्रथम दृष्टि म वे बिलकुल एस लगते थ जस कोई रवल्ला व्यक्ति बुद्धिजीवियो के दल म आ घुसा हो, परन्तु अपनी आत्मा को वे पहचानत थे। वे यह भी जानत थे कि उन्ह मूख बनाया जा रहा है, पर मानो मूख बनन मे उन्ह आन द आता था। उनके अन्तर म स्नेह की अशेष प्यास थी और उस प्यास का शात रखने की चेष्टा म वे छले जात थे। भवभूति का सा सात्विक गव उनम था और वे अपन दान को नगण्य मानने को भी कभी तैयार नही थे। बीट कवि गिन्सबग स भी अपने को बडा बीट समझन का दावा उन्हान मात्र आवेश म ही नही किया था। उनका यह विश्वास था कि किसी न न तो उन्ह पहचाना और न उनकी कद्र ही की। यही शिकायत उनके जावन की त्रासदी है।

उनको लकर अनक मूखता भरी कहानिया प्रचलित हो गइ थी। उनके मित्र रस ले ले कर उनके अपमानित लाछित होन यहा तक कि उनके पिटने तक की बातें कहत रहत थे। लेकिन किसी ने कभी उनका समझने की चेष्टा नही की। आज जब वे नही रह तो सभी उस व्यथा को अनुभव करत हैं।

उस दिन हौजकाजी के चौराह पर जब हम दोना स्टशन जान क लिए तागे की तलाश कर रहे थे तो वे बाले 'मैं उसी ताग व रिक्शे म बैठूगा जिसका चालक गा सकता हो।

तब मुझे हसी आ गई थी। फिर भी मैंन न जान कितन रिक्शा और तागेवालो से यह प्रश्न किया। उनम स अधिकाश ने आश्चय स भरी ओर देखा, फिर विद्रूप स मुस्कराए और चले गए। कुछ ऐस भी जिन्होन गान के स्थान पर गाली से ही हमारा स्वागत किया। ला।

शांतिप्रिय द्विवेदी थे कि सब ओर से निश्चित गानेवाले चालक की खोज मे संलग्न रहे और अन्त मे एक संगीत प्रिय चालक मिल ही गया। वह मनचला पठान हम सारे रास्ते हीर सुनाता रहा और शांतिप्रिय झूमते रहे। वे तब कितने गदगद हुए थे! मैं उनके उस रूप को देखता और अनुभव करता कि इस व्यक्ति ने अभी शैशव को भी पार नही किया है। जीवन के लिए शैशव कितना आवश्यक है! बडे से बडा बुद्धिजीवी भी किसी न किसी क्षण इस आकाक्षा से आक्रांत हो ही जाता है। इस सब के मूल मे क्या उनकी सौन्दर्य की अदम्य प्यास ही नही थी?

एक दिन मैंने भोजन के लिए अपने घर आमन्त्रित किया। कुछ और व्यक्ति भी आनेवाले थे। ठीक समय पर पाया कि शांतिप्रिय ही नही पहुचे है। तभी किसी कार्य वश मुझे हौजकाजी जाना पडा। देखता हू कि भाग की दुकान के सामने वे अकेले ही खडे हैं। मैंने उनसे कहा 'घर पर आपकी राह देखी जा रही है। सभी लोग आ गए हैं। आप क्यो नही आए?"

बोले, 'ऐसे ही, मन नही किया।

मैंने कहा 'अब चलिए मेरे साथ।

वे सहसा बोले 'चल सकता हू लेकिन भोजन नही करूगा।

मैंने कहा, 'चलिए तो सही भोजन की बात भी देखी जाएगी।'

वे घर आए। पडित बनारसीदास चतुर्वेदी वही पर थे। बहुत देर तक हम लोगो का हसी मजाक चलता रहा। जब थालिया आयी तो वे एक ओर जा बैठे। बोले, मैं भोजन कर चुका हू।"

चतुर्वेदीजी के आग्रह पर भी उन्होने खाना स्वीकार नही किया। लेकिन जब फूली फूली पूरिया परोसी गई तो उनके चेहरे पर मुस्कराहट खिल उठी। ललचौंही दृष्टि से, जो प्रशसात्मक ही अधिक थी, देखते हुए बोले 'भव्य दिव्य! कैसी सुन्दर कलापूर्ण पूरिया बनी हैं! सचमुच किन्ही सधे हुए हाथो की कला है।

चतुर्वेदी हसे, तो फिर इनका सदुपयोग किया जाए न!"

मैं बोला 'इनका थाल भी आ रहा है।'

शांतिप्रिय ने आश्चर्य से मेरी ओर देखा कहा, मेरा थाल! मैंने

ता मना किया था।'

मैं बोला, "आप सौंदय के उपासक हैं। ऐसी सुदर कलापूण वस्तु का अपमान नही कर सकते, यह मैं जानता हू।"

शान्तिप्रिय जोर से हसे और जब थाल सामने आया तो सहज भाव से खाने लगे। हसी मजाक के साथ खाना चलता रहा। समाप्त होते होते मैंन कहा अभी उठ न जाइए, कुछ मीठा भी है।"

वे बाले, भया मीठा मैंने बहुत खाया है। तुम अब और क्या खिलाओगे ?'

मैंने पूछा "क्या क्या मीठा खाया है ?'

वे वाले, मैंन गाव म गन्न का रस पिया है गुड खाया है।'

हम सब जोर स हम तो उन्हान कहा इसमे हसन की क्या बात है ! गन्ने का रस ही ता इस सारी मिठास का आधार है। जिसने वह रस पी लिया उसन सब कुछ पा लिया। फिर एकाएक बोले, "खाना किसने बनाया है ?

मैंन कहा क्यो, क्या सीखने की इच्छा है ?'

'नहीं भैया बहुत स्वादिष्ट बना है। सुरुचि और कला का बडा सुदर परिपाक हुआ है। मुझे अपनी पत्नी के पास ले चलो। मैं उन्ह प्रणाम करूगा।'

मैंने उत्तर दिया, 'मेरी मा अभी जीवित हैं। आपके लिए विशेप रूप स उन्होने ही बनाया है।'

यह सुनकर ता वे इतन तरल गद्गद हुए कि सहसा उठ खडे हुए और 'किधर हैं ?' कहत हुए छज्जे पर स होकर रसाई की ओर चल दिए। मैंने तुरत आगे जाकर मा का पुकारा। द्विवेदी जी का परिचय दिया। उन्हान तुरत 'मा के चरण छुए। बोले, 'माता जी, आप सचमुच अन्नपूर्णा मा ह। आपन इतना सुदर और स्वादिष्ट भोजन बनाया है। पूरिया ता दिव्य था।

वह दृश्य इस क्षण भी मेरी आखो मे उभर उठा है। देहरी के उस ओर खडी मुस्कराती हुई मेरी स्नेहमयी मा और इस ओर चरण छून को झुके हुए शान्तिप्रिय द्विवेदी। कितना दद उठा होगा उस क्षण उनके

अनर म । म स्वीकार करूंगा तब मेरे नयन भी सजल हो जाए थे और मुझे लगा था कि बाहर से ऊबड़ खाबड़ और बिछुड़ल इस व्यक्ति का अंतर सौंदय और स्नेह के लिए कितना व्याकुल रहता है ! कितनी प्यास है इस चातक को स्नेह की एक विरल बूंद की ! जैसे यह पुकार पुकारकर कह रहा है— मुझे जीवन चाहिए ! मुझे प्रेम चाहिए !

यही व्याकुलता उनसे बहुधा ऐसे काम भी करा लेती थी जिनमें विवेक का अभाव रहता था । प्यास की उत्कटता विवेक को प्रायः धूमिल कर देती है । सुन्दर लड़कियों के प्रति उनकी आसक्ति को लेकर उनके तथाकथित मित्रों ने उनका कितना उपहास उड़ाया है ! उन्हें सचमुच कोई शिव ही समझ सकता था । पर वे क्या सहज उपलब्ध होते हैं ?

उन्हीं दिनों दिल्ली के कुछ महत्त्वाकांक्षी युवकों ने एक मासिक पत्रिका निकाली थी । मैंने उनसे कहा इसके लिए एक लेख दीजिएगा ?

बोले, "पारिश्रमिक तो मिलेगा ?"

उन दिनों आज जैसी स्थिति नहीं थी । प्रायः पारिश्रमिक नहीं मिलता था । मिलता भी था तो बहुत ही कम । फिर भी मैंने उनसे कहा, 'आपके लिए कुछ न कुछ प्रबंध किया ही जाएगा ।

उन्होंने तुरंत पत्रिका के नाम पंकज' को लेकर एक छोटा सा सरस लेख लिखकर दिया । पैसों की उन्हें तुरंत आवश्यकता थी और पत्रिका के पास पैसे थे नहीं । जैनेन्द्र जी के लिए किसी लेख की पचीस रुपये की एक राशि रखी हुई थी । उन्हीं के सुझाव पर वे रुपये उन्हें दे दिए गए । वे बोले 'मैं परसों इलाहाबाद जाना चाहता हूं । इन पैसों से एक सकिंड क्लास की सीट रिजर्व करा दें ।"

सीट रिजर्व हो गई । लेकिन चौथे दिन जैनेन्द्र जी के घर जाकर क्या देखता हूं कि शान्तिप्रिय सशरीर उपस्थित हैं ! मैंने अचकचाकर पूछा, "आप गए नहीं ?"

सहज भाव से वे बोले 'मन नहीं हुआ ।

मैंने कहा 'फिर रिजर्वेशन कैंसिल करा लिया था ?'

बोले हो गया होगा, मैं उस चक्कर में नहीं पड़ा ।"

छायावाद और भावुकता का युग बीत गया है । प्रत्येक युग बीत जाता

है परन्तु अपने युग में कौन कितना देता है, उसी से तो व्यक्ति का मूल्यांकन किया जाता है। इतिहास में विरले नाम ही अंकित हो पाते हैं। शांतिप्रिय का नाम वहां अंकित है। 'माधुरी', 'हंस', 'वीणा', 'कमला', और 'आज' जैसे कितने ही पत्रों का उन्होंने संपादन किया। वे कवि, उपन्यासकार, निबंध संस्मरण लेखक और आलोचक सभी कुछ हैं। उनकी पुस्तकें साहित्य की ऊंची से ऊंची कक्षाओं में पढ़ाई जाती हैं। छायावादी आलोचना के क्षेत्र में वे अप्रतिम थे। उन्होंने मुझसे कहा था, 'मैं कभी व्यर्थ शब्द नहीं लिखता। किसी को पत्र भी लिखता हूं तो उसका उपयोग भी अपनी पुस्तकों में कर लेता हूं। तुम्हारे कहानी संग्रह 'आदि और अन्त' को पढ़कर मैंने जो पंक्तियां तुम्हें लिख भेजी थीं वे पुस्तक के दूसरे संस्करण में आ गई हैं।"

अपनी बहिन को लेकर उन्होंने जो संस्मरण लिखे हैं और उनके जो निबंध हैं उनमें उनकी दृष्टि और चिंतन का अद्भुत परिचय मिलता है। गांधी का यथार्थ जनित आदर्श, कीट्स जैसी सौंदर्य की अशेष पिपासा और युग जीवन की तलवर्ती परख, सब-कुछ उनमें था। वे मात्र मौलिक चिंतन और सूझ बूझ के ही स्वामी न थे, उनकी प्रतिभा देशी विदेशी सभी प्रकार के प्रभावों से मुक्त थी। उन्होंने केवल चौथी श्रेणी तक ही शिक्षा पाई थी, परन्तु अपनी सहज प्रतिभा और अदम्य इच्छा शक्ति के बल पर वे अपने युग में एक जाज्वल्यमान नक्षत्र बनकर चमके। जिसने कभी प्रेम का सरस स्पर्श नहीं पाया खान-पीन तक की सुविधा जिसे नहीं मिली जो उच्च शिक्षा भी नहीं पा सका, उसने साहित्य को इतना-कुछ दिया कि पाठशाला की पटाई पर से विश्वास उठ जाता है। दुनिया की पाठशाला में तिल तिल कर अपनी सूखी हड्डियों का रस जलाकर उस चिर एकाकी ने जो कुछ सहेजा था, उसका ही फल साहित्य को दिया। अपने पास रखी केवल अंतर्वेदना की तपन। इसीलिए एक ओर इतने भोले दूसरी ओर इतने सजग! आलोचना में कितने तटस्थ परन्तु साथ ही कितने भावुक! सचमुच उस अतल सागर को कोई समझ नहीं पाया। व्यवसायी लोग लहरों से ही खिलवाड़ करते रहे। अब जब सागर सूख गया है तो हम मरुस्थल की रेत को माथे पर लगाकर कहते हैं, ओह

तुम कितने महान थे।

उस महानता की थाह शायद लोलार्क कुण्ड के उस बूढ़े पीपल के पास हो जिसकी छाँव तले के मकान में एक छोटे से कमरे में उन्होंने अपने उपेक्षित एकाकी जीवन के रक्त को तिल तिल जलाते हुए सरस सशक्त साहित्य की सृष्टि की थी। हमारे लिए तो आज वे एक धधकता हुआ प्रश्नचिह्न मात्र बनकर रह गए हैं।

# डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

बात तब की है जब महापण्डित राहुल सांकृत्यायन संज्ञा खोकर तिल तिल मृत्यु की ओर खिंच रहे थे। मैंने मराठी के सिद्धहस्त नाटककार मामा वरेरकर से कहा— मामा ! राहुल जी को देखने नहीं चलेंगे ?"

मामा ने तुरन्त उत्तर दिया, नहीं जा सकूंगा।"

चकित सा मैं बोला, क्यों ? '

उसी दृढ़ता से मामा ने कहा— क्योंकि मैं समर्थ की असमर्थता नहीं देख सकता।

सत्य कड़वा था, पर सत्य था। आज सोचता हूं तो स्मृति पटल पर अनेक संज्ञाहीन चेहरे उभर आते हैं। क्रान्तिकारी बटुकेश्वर दत्त, प्रखर कवि आलोचक मुक्तिबोध महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, मुक्त अट्टहास करनेवाले रामवृक्ष बेनीपुरी, कितने समर्थ थे ये सब ! इन्हीं की असमर्थता देखकर कितना व्यथित हो उठा था मेरा मन !

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कई दिनों से अस्वस्थ चल रहे थे। वाराणसी में कुछ न हो सका तो उन्हें दिल्ली लाया गया। सूचना मिली वे प्रायः मनोहीन हैं। मस्तिष्क में ट्यूमर है। किसी को उनके पास जाने की अनुमति नहीं दी जा सकती। मैं नहीं गया वहां। मामा के शब्द याद आ गए। जो अट्टहासों का स्वामी था उसके चारों ओर घहराते अशुभ मौन को सहने की शक्ति मुझमें नहीं थी।

नियति के सामने समर्थ की यह असमर्थता। और समर्थ भी ऐसा जो एक बार तो अचेतन कर दे। जिसमें साहित्य समर्थ हुआ, मनुष्य सम

हुआ मानवीय मूल्य समथ हुए, उसकी असमथता कोई कमे सह ? लेकिन यह द्वन्द्व तो हमारे मन का है न ? मन ही सुख दुःख म पक्ष करता है। नही तो, क्या हम भी अतीत नही हो सकते इस द्वन्द्व स ?

कहा गया कि वे प्रकाण्ड पण्डित थ, बहुभाषाविद् थे, गहन गति थी उनकी प्रचीन वाङ्मय म और प्राचीन सदर्भों को एस नय अथ दनवाले थ कि व युग सत्य बन जात। वे पुरातन के सहारे वतमान को देखत। इसी को सुधि आलोचक आधुनिकता बोध कहते हैं। यू उनका सत्य मानवीय मूल्यो का सत्य था जो कभी काल के बन्धन मे नही आता।

वह प्रखर आलोचक थे पर उनका लक्ष्य ध्वस नही था, सही जमीन को पहचानना और पकडना था। मध्ययुगीन सन्त साहित्य की, विशेषकर कबीर की चचा उनम सुनन पर जो मार्मिक अनुभूति होती थी उस ब्रह्मान द सरोवर म डूबन की ही सज्ञा दी जा सकती है। फक्कड कबीर मुझ भी बहुत प्रिय है। मानता हू कि उनकी फक्कडता ही लोकतत्त्व की सही पहचान है। द्विवेदी जी वाल्मीकि व्यास और कालिदास स होकर कबीर को पा सके, यही उनकी सहज मानवीयता की पहचान है। अभिजात्य स लोकतत्त्व की ओर उनकी यात्रा ही उनके साहित्य की धुरी है।

वह भाषण देते तो लगता जैस ज्ञान की परतें ही नही खुल रही हैं मत्रमुग्ध कर दनेवाली सजीवनी भी अन्तर को सराबोर किये दे रही है। ऐसा व्यक्ति कैसा प्राध्यापक हो सकता है यह कल्पना करना कष्टकर नही है। अपने शिष्यो को अपनी सहज विनोदप्रियता, सहज मानवीयता के कारण ही तो उन्होंने अपने गुरुत्व के भार से नही दबने दिया। सभी को व सखा मानते समझते रहे।

राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रश्न उनके लिए भाषा का प्रश्न नही था, उन असख्य व्यक्तियो की आशा आकाक्षा और सुख दुःख का प्रश्न था जो उसे बोलत समझत थे। राजनीति सीधे सत्ता से जुडी रहती है और सत्ता सबस पहले मानवीयता को ही नष्ट करती है। द्विवेदी जी उसी मानवीयता के पक्षधर थे। यही इस युग की त्रासदी है।

उनका अट्टहास ऐसा था जसा सूय का प्रकाश। सूय प्राणदाता है।

उनका अटटहास भी प्राणा मे उजाला भर दता। सस्ता साहित्य मण्डल' से उनका निबध-सग्रह 'अशाक के फूल प्रकाशित हुआ। जब भी व आत सम्पादक मण्डल का वह लघु कक्ष उनके अट्टहासा स विराट हा उठता। कथा-सूत्र एस जोडत कि उनकी सजनशीलता पर मुग्ध होना पडता। बोले—'एक बार आचाय क्षितिमाहन सन के साथ टीकमगढ जाना हुआ। वहा देखा—बेलो से पड लद है। किसी न बता दिया कि पट के लिए बेल अमत फल ह। बस, विदा वला म एक बोरी भरकर बल भी सेन महोदय के साथ चली। उनकी सार सभाल का भार स्वाभाविक रूप स मुझे ही उठाना था। कुढकर रह गया। कस उठाऊगा इस भार का? क्या कोई मुक्ति का माग नही है?

सहसा एक विचार कौंध गया। तागे म यात्रा कर रह थ। बेला की बोरी पैरा म थी। चुपके स एक बल निकालकर सडक पर लुढका दी। दखा वह तो तुरत आखा से ओझल हो गई। फिर क्या था, स्टशन पहुचने तक मैंन यह क्रम भग नही हान दिया।

सन महोदय न जब बोरी दखी ता उसम दो चार बेल शेष थी। *हैरान होकर बोल, 'हजारीप्रसाद, बेल क्या हुए?'*

अजान अनजान मैंन कहा, 'क्या हुआ? बोरी म नही ह?

सन महोदय बोले चले थे तो बोरी भरी थी। अब तो दो चार है इसम।

उसी तरह निर्दोष भाव से मैंने कहा, 'समझ गया। बेलो का स्वभाव लुढकना है। लगता है तागे की गति के साथ वे भी लुढकती रही' और माग स भटक गई।

सन साहब न मेरी ओर देखा बोले, सब समझता हू। तुम्हारी शरारत है यह। तुम्ह उठानी पडती इसलिए तुमने '

लेकिन वह वाक्य पूरा हो ही नही पाया क्योकि हमारा कक्ष तो पहले ही अट्टहासो स भर उठा था।'

उस दिन पजाब विश्वविद्यालय के किसी भाज के अवसर पर हम *दोना जालधर मे मिले। मैं उदर रोग स पीडित था, इसलिए जहा भोज* मे नाना प्रकार के व्यजन परोस गए वहा मेरे सामन केवल दूध का एक

गिलास ही था। द्विवेदी जी ने मुझे देखा दूध के गिलास को देखा, नाना प्रकार के व्यंजनों को देखा। मैं समझ गया अब विस्फोट होने ही वाला है। बोल उठा द्विवेदी जी ! आजकल उदर रोग कुछ उग्र हो उठा है। वाक्य पूरा होते न होते द्विवेदी जी शरारत से मुस्कराते हुए बोले आप कुछ भी कहें जो सच है वह तो बाबा तुलसीदास ही कह गए है— सकल पदारथ है जग माही भाग्यहीन नर पावत नाही।'

फिर तो वह कहकहा उठा कि मेजें हिल उठी।

जैसे ही कुछ शांति हुई मैंने कहा 'द्विवेदी जी ! भाग्यहीन के स्थान पर करमहीन भी आता है कहीं कहीं।'

द्विवेदी जी बोले मुझे लगता है 'करमहीन' न होकर यहां 'कर विहीन' रहा होगा। वही अधिक साधक लगता है।

फिर तो द्विवेदी जी अपने ढंग से भाग्यहीन करमहीन और कर विहीन की न समाप्त होनेवाली व्याख्या में व्यस्त हो उठे और हम सब मंत्रमुग्ध से सुनते रहे। बीच बीच में हँसी की फुहार तो छूटती ही रहती थी।

साहित्यकारों में प० माखनलाल चतुर्वेदी और श्रीमती महादेवी वर्मा की अपनी विशिष्ट शैली रही है। माधुर्य और ओज दोनों से ओतप्रोत भाषा का सौष्ठव वहीं देखने को मिला पर जब द्विवेदी जी बोलते तो न होता ओज और न होता माधुर्य होती ज्ञान की गरिमा को ढलती वह भाषा जिसका प्रयोग वही कर सकते है जिन्हें सब कुछ सहज हो गया हो। ऐसी सहजता हो तो श्रोताओं को सहज और मुग्ध करती है। मेरे जिज्ञासा करने पर सहजता का रहस्य बताते हुए द्विवेदी जी ने कहा था शुरू शुरू में मुझे जब भी भाषण देना होता तो बड़ी तैयारी करता। पाण्डित्य का प्रदर्शन भी होता उसमें लेकिन उसका जरा भी प्रभाव न होता श्रोताओं पर। सब कुछ अनबूझा रह जाता। एक दिन ऐसा हुआ कि एक सभा में अचानक बोलना पड़ा। जरा भी समय नहीं कि कुछ सोच सकूं। काप आया कि अब क्या होगा लेकिन जैसे ही श्रोताओं पर दृष्टि पड़ी तो मार्ग मिल गया। मैंने उन्हीं की भाषा में उन्हीं के बारे में बोलना शुरू कर दिया। अचरज कि दूर दो मिनट बाद सभा मण्डप तालियों की गड गड़ाहट से गूंज रहा है। उस दिन मैंने सीखा कि पाण्डित्य का बोझ उतार

कर श्रोताओ की भाषा म श्रोताओ क मन की बात करना ही वह मत्र है जो सिद्धि दाता है ।

सचमुच पाण्डित्य की गरिमा मानवीय समवदना और लोकतत्त्व क माध्यम म होती है उस वाद दकर नही । उनक सजक कलाकार होन का रहस्य भी यही था कि व पाण्डित्य क बोझ म पीडित नही हुए । पराग की रक्षा करन क लिए वह फूल की पाखुरियो की तरह था ।

द्विवेदी जी विशेषणहीन मनुष्य थे । वही साहित्य म उनका लक्ष्य था वही क द्र था उनकी दष्टि म विज्ञान और अध्यात्म का । पुरानी बात ह तब की जब भाई अमतराय हस का सम्पादन करत थ । अ क्षेप हुआ कि वह निता त वामपथी पत्रिका हो गई है । एक लख म इस आक्षप का निराकरण करत हुए उ होन मानव मूल्यो की याख्या की और उदाहरण के रूप म हस म प्रकाशित एक कहानी का हवाला दिया । वह मेरी कहानी थी तांगेवाला । वर्षों बाद मैंने वह लेख देखा था और चकित रह गया था । कितने जागरूक पाठक थे वह । वह मात्र उन्ही पुस्तको पर सम्मति नही दत थे जो आग्रहपूर्वक उ ह भेजी जाती थी, स्वय पढकर भी लिखत थे । आवारा मसीहा' पूरा पढने स पूव ही गदगद होकर उन्होने जो पत्र मुझे लिखा था उसकी दस पक्तियो म ही उ होन इतना कह दिया था जो दस पृष्ठो के लेख म न कहा जा सक । आज धज्जिया उडान का युग है । छिद्र ही उछालत है हम पर द्विवेदी जी कोइ दाष देखत तो बहुत धीमे से प्यार स उस ओर सकेत करते ।

कहा है न कि मनुष्य मे उनकी आस्था थी । 'ज्ञानोदय' क सम्पादक क प्रश्न क उत्तर म (नवम्बर 1967) उ होने कहा था 'यह दुनिया नष्ट होने योग्य नही है । यह सुदर है बहुत सुदर । इसने मनुष्य का ज म दिया है । मनुष्य अपार सम्भावनाओ का महान भडार है ।'

मनुष्य म यह आस्था प्रम-तत्त्व को आत्मसात् किय बिना नही हो सकती । उ ही सम्पादक के एक और प्रश्न के उत्तर म कि 'प्रलय क समय आप किस बचाना चाहेंगे', उ होन कहा था परिवार और सम्मित्र-मण्डली का क्योकि ससार क सवश्रेष्ठ रत्न प्रेम का साक्षात्कार मुझे यही हुआ है । ईश्वर को पारिवारिक रूप म या मित्र रूप म दखना

संयम बड़ा दर्शन है । परिवार और मित्र के अभाव में यह दृष्टि मिल नहीं सकती ।

तो द्विवेदी जी का जीवन-दर्शन यही था । इस दर्शन के (आलोक में) ही तो वे पाण्डित्य और सर्जक साहित्यकार में समन्वय साध सके । प्रेम और मनुष्य के प्रति ऐसी निष्कपट आस्था ने पाण्डित्य को बोझिल नहीं बनने दिया । उनके समग्र साहित्य में यही दर्शन मुखर हुआ है ।

कह आया हूं कि वह प्राचीन संदर्भों को नये आलोक में व्याख्यायित करते थे । पुनर्नवा पढ़कर मैंने उन्हें एक पत्र लिखा था । उस उपन्यास की कथा का मूलाधार 'मृच्छकटिकम्' की कथा है पर 'पुनर्नवा' में वह गौण हो गई है । मैं जानना चाहता था कि क्या आपकी कथा का कोई ऐतिहासिक आधार है ? द्विवेदी जी ने जो उत्तर दिया वह उनके कथा-स्रोत और उनकी रचना प्रक्रिया पर प्रकाश डालता है —

"मैंने तो चन्द्रायन, लोरिकायन आदि लोक कथाओं से प्रेरणा ली है और उसमें इतिहास का छौंक दे दिया है । मृच्छकटिकम् एक प्रकरण है । वह किसी प्रख्यात वंश के राजर्षि का चरित नहीं है बल्कि काल्पनिक निजंधरी कथाओं (लिजेण्डरी टेल्स) पर आश्रित प्रकरण है । मैंने इसी रूप में इसका उपयोग भी किया है । इन निजंधरी कथाओं का प्रकरण और कथानक यथेष्ट प्रयोग करते रहते हैं । यह भारतीय साहित्य की चिराचरित प्रथा है ... ।"

किसी मनीषी ने कहा था कि न जन्म होता है न मृत्यु । आत्मा उच्चतर लोकों की तलाश में आगे बढ़ जाती है और हर पड़ाव पर अपनी स्मृति छोड़ जाती है । यही स्मृति मनुष्य की पहचान कराती है । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की पहचान इसी मनुष्य की पहचान है । नहीं जानता कि अट्टहास मौन हुआ या आलोक पर्व समाप्त हुआ या सूर्य अस्त हुआ पर इतना अवश्य जानता हूं एक मनुष्य था जो समय के पथ पर अपने चरणचिह्न अंकित कर आगे बढ़ गया ।

वे ही चरणचिह्न स्मृति बनकर उनकी पहचान को जीवित रखेंगे और अनास्था के इस युग में आस्था को नामशेष नहीं होने देंगे ।

मनुष्य की यही पहचान संस्कृति की पहचान है ।

# कविरत्न प० हरिशकर शर्मा

शमा जी की बात सोचता हू तो सहसा गास्वामी तुलसीदास जी की यह चापाई याद हो आती है— दिवस जात नहि लागहि बारा।' इस अद्धाली के पीछे कितनी मार्मिक अनुभूति है। कितनी जल्दी व्यतीत हो गए व चालीस वष जब पहला पहल मेरा शमा जी स पत्र व्यवहार हुआ था। मैं तब लेखक बनने के प्रयत्न म था और उसी प्रयत्न म 'आय मित्र' तक पहुच गया था। श्वेत पोस्ट काड पर उनकी सुन्दर लिखावट तथा नय लेखक के प्रति आत्मीयता और सवदनशीलता न मुझे उनके प्रति श्रद्धा स भर दिया था। आज मानव जीवन के मूल्य बदल गए हैं, तो भी अपन अन्तर म उनके प्रति उस श्रद्धा मे रचमात्र भी अन्तर नहीं पाता। कभी कभी स्वय मुझे इस बात पर बडा आश्चय होता है।

वे मेरे जैसे नौसिखिए के लेखो को बडे प्रेम स 'आय मित्र' में प्रकाशित ही नही करते थे, माग दशन भी करते थ। बडी उत्सुकता स मैं उनके पत्र की राह देखा करता था। 'आय मित्र' एक सम्प्रदाय विशेष का पत्र था, लेकिन शर्मा जी के सम्पादकत्व मे वह सबके लिए सहज सुपाठय हो गया था। उनका क्षेत्र जितना व्यापक था उतने ही व उदार भी थे। इस उदारता की नीव पण्डित लक्ष्मीधर वाजपेयी ने डाली थी जो उससे पूव 'सर्वानन्द' के नाम से आय मित्र' का सम्पादन करते थ।

मुझे 1934 के प्रारम्भ के उन दिनो की बहुत अच्छी तरह याद है जब उन्होने आय मित्र के सम्पादक पद स त्याग पत्र दे दिया था उसका कारण था आय मित्र के सचालक का अभद्र व्यवहार। ।म।

व्यवसायी नहीं थे। दलगत विद्वेष उन्हें छू तक नहीं गया था। उस समय उन्होंने जो वक्तव्य दिया था उसमें न आक्रोश था और न था आक्रमण की भावना। थी बस सत्य के लिए जीने की साध और आत्म सम्मान की रक्षा करने की भावना। पढ़कर मेरा युवक मन पीड़ा से भर उठा था। मैंने इस सम्बन्ध में एक कड़ा विरोध पत्र लिखा था जिसमें यह समझाने का प्रयत्न किया था कि किस प्रकार अपनी प्रतिभा के बल पर शर्मा जी ने एक चौथी श्रेणी के पत्र को प्रथम श्रेणी का श्रेष्ठ साप्ताहिक बना दिया है—ऐसा साप्ताहिक जिसका क्षेत्र किसी सम्प्रदाय विशेष तक सीमित नहीं है बल्कि उसका लक्ष्य मनुष्य मात्र को अपने आंचल में समेट लेनेवाली संस्कृति है।

तब तक उनसे मेरी भेंट नहीं हुई थी। मेरे और उनके बीच एक पीढ़ी का अन्तर था। फिर भी मेरे प्रति उनकी आत्मीयता एक चिर परिचित स्नेही बन्धु की सी थी। न केवल उन्हें 'आर्य मित्र' के सम्पादक के नाते ही जानता था एक सुलझे हुए लेखक और हास्य रस के प्रभावशाली कवि के रूप में भी पहचानता था। जानता था कि वह हिन्दी के समर्थ और बहुमुखी प्रतिभाशाली कवि श्री नाथूराम शर्मा 'शंकर' के पुत्र हैं। इसी लिए मेरी श्रद्धा में आत्मीयता की गहरी पुट भी थी। शर्मा जी का प्रतिदान भी मुझे आत्मीयता की उसी भाषा में मिलता रहा।

कई वर्ष बाद एक दिन देखता हूं कि अचानक हिसार से चलता हुआ आगरा में उनके घर पहुंच गया हूं। वह क्षण आज भी मेरे मन पर अंकित हैं। जीने से चढ़कर जब मैंने कमरे में प्रवेश किया तो पाया एक स्वस्थ और हंसमुख व्यक्ति दो संन्यासियों से वार्तालाप में संलग्न है। झिझकते हुए मैंने अपना परिचय दिया। सहसा उनकी आंखें हर्ष से भर उठीं। खींचकर उन्होंने मुझे अपने पास बिठा लिया और संन्यासियों से मेरा परिचय एक बड़े लेखक के रूप में कराया। प्रथम दर्शन का वह सरल स्नेहिल, आत्मीयतापूर्ण आतिथ्य कभी भूलनेवाली वस्तु नहीं है। उस दिन जैसे मैं भर उठा था।

उसके बाद अनेक बार मिलना हुआ। प्रथम दर्शन का वह स्नेह और वह सहज आत्मीयता निरन्तर गहन होती रही। दम्भ या दर्प उन्हें कभी

छू नहीं सका । व सरलता की प्रतिमूर्ति थे । उनका वहुत लोगो न ठगा होगा लकिन व कभी किसी का नही ठग सके । इन अर्थो म व शायद कबीरपंथी थ—

> कबीरा आप ठगाइए और न ठगिए काय
>
> आप ठग सुख ऊपजे, और ठग दु ख होय ।

व उस खेमे के व्यक्ति थे जो महानता का आधार चरित्रगत व्यवहार मानत हैं वैभव विलास नही । एस व्यक्ति परम्पर क सम्ब ध का सर्वो परि महत्त्व दत हैं । इसीलिए शर्मा जी क मुख पर सदा सौम्यता दिखाई देती थी और किसी परिचित का दखत ही उनकी आखें उल्लास स चम कन लगती थीं । व खूब हसत थ । उनकी गिनती इन गिन हास्यरस के लेखको म की जाती थी । नही जानता उनकी रचनाए पढ कर आज कितने लोग हँस सकत है, परन्तु अपन अनुभव स इतना अवश्य जानता हू कि कुछ क्षण उनके पास बैठन पर मन का सारा विषाद धुल पुछ जाता था और साथ मे कही श्रद्धेय प० बनारसीदास चतुर्वेदी या श्री केदारनाथ भट्ट होत तो फिर उस दश्य का वणन करन के लिए शब्द पाना कठिन हो जाता ।

युग बडी तेजी स बदल रहा है । शताब्दियो म जो परिवतन होत थे वे अब दशको म हो जात ह । इन्ही 30 40 वर्षो म मनुष्य कहा स कहा पहुच गया है । चन्द्रमा पर जाना एसा हो गया है जैस एक दश से दूसरे दश म जाना । इन भौतिक परिवतनो न मानव मूल्यो को भी प्रभावित किया है । सब-कुछ जसे टूटता हुआ लगता है । टूटन और टटन नये कुछ निर्मित होता दिखाइ नही दता । यह पुरानो का दष्टिदोष है । इसी कारण पीढियों का सघष है आक्रमण और उपक्षा, उपक्षा और आक्रमण । नयी पीढी वाले समझत है कि उन्ह न तो उचित गौरव मिलता है और न उचित सम्मान ही इसलिए य पुरानी पीढी पर बडी निदयता के आक्र मण करते हैं । वे भूल जाते है कि पुरानी पीढी के कारण ही उनका अस्तित्व है । शृ खला की य कडिया अपन सम्ब धो म अटट है । शमा जी की दृष्टि यहा भी बहुत स्पष्ट थी । वे नयी पीढी के प्रति अत्यन्त सवदन-शील और उदार थ । व मानते थे कि दायित्व नवयुवको का लेना ।

जो बड़े हैं वे मार्गदर्शन कर सकते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो संघर्ष अनिवार्य है और संघर्ष कटुता को ही जन्म देता है।

उस युग में शर्मा जी की हास्य कविताओं की बड़ी धाक रही। उनके व्यंग्य ने लाखों व्यक्तियों को तिलमिला दिया। 'लीडर लीला' 'पिंजरा पोल' और 'चिड़ियाघर' जैसी युगानुरूप सुन्दर कृतियां उन्होंने दीं। अनुप्रास का युग आज नहीं है पर उनके चुटीले आक्रमण आज भी उतने ही प्रभावशाली हैं, जितने उस युग में थे। लेकिन अश्लील या अभद्र होना उन्होंने सीखा नहीं था। हास्य और व्यंग्य की श्रेष्ठता की कसौटी यही है कि उसमें कटुता न हो। शर्मा जी की रचनाओं में कटुता ढूंढ़े भी नहीं मिल सकती। यद्यपि उनकी रचनाओं की लोकप्रियता का बहुत बड़ा आधार शब्द चमत्कार ही रहा है लेकिन फिर भी वही सब कुछ नहीं था। 'लीडर लीला' का व्यंग्य इस चमत्कार से मुक्त है। इसलिए उसका प्रभाव और भी सघन हो जाता है।

उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। जितने अधिकार से हिन्दी में लिख सकते थे उतना ही अधिकार उन्हें उर्दू पर था। वे हिन्दी और उर्दू के बीच की कड़ी थे। संस्कृत और फारसी दोनों से वे बहुत अच्छी तरह परिचित थे। उर्दू काव्य का उनका ज्ञान बहुत विस्तृत और गहन था। 'मकश' अकबराबादी ने लिखा है 'आपने जिस तरह उर्दू लिटरेचर को हिन्दी लिटरेचर के करीब किया है वह हमेशा तवारीख में याद रहेगा। मुझे यह महसूस करके बड़ी खुशी होती है कि आप उर्दू में भी शेर कह सकते हैं। यह बात उर्दू वालों के लिए बड़े फख्र की है। इसमें हम यह सबक हासिल कर सकते हैं कि बड़ा अदीब वही है जो एक जबान में माहिर होने के अलावा और भी कई जबानों और उनके अदब से वाकिफ हो। मेरे दिल में पण्डित जी की इज्जत भी है और मुहब्बत भी। क्योंकि उनके दिल में सब के लिए मोहब्बत है और यही उनके बड़े होने की दलील है।'

शर्मा जी अपने देश से भी उतना ही प्यार करते थे जितना अपनी भाषा से। उन्होंने कभी कोई पद नहीं चाहा, लेकिन गांधी युग के सभी आन्दोलनों में वह सक्रिय रहे। उनका घर स्वाधीनता संग्राम में सैनिकों

का आश्रय-स्थल बना रहा। 1942 की जन क्रान्ति म उन्हें जेल के सीखचों के पीछे बन्द कर दिया गया था लेकिन देश के आजाद हो जाने के बाद उन्होंने एक क्षण म लिए भी उसका मूल्य वसूल करने की कल्पना नहीं की। एक साहित्यकार क नाते ही उन्होंने जीना सीखा।

आगरा ने साहित्य की अनेक विभूतियों को जन्म दिया है। सरल प्राण प० हरिशंकर शर्मा उन्हीं विभूतियों म अग्रगण्य थे। व कवि थ परन्तु कवि सम्मेलनों के सम्बन्ध म उनकी जो धारणा थी उसम उनके स्वतन्त्र और स्वस्थ दृष्टिकोण का पता चलता है। 14 जनवरी 1947 के पत्र म उन्होंने मुझ लिखा था कवि सम्मेलनों स हिन्दी का कुछ प्रोपगण्डा तो होता है परन्तु अच्छी कविता प्राय उनम नहीं पढ़ी जाती। गाने वाले कवियों को वाह वाह मिलने का वह उपयुक्त स्थान है। कवियों म यश लिप्सा के साथ साथ धन लिप्सा भी बुरी तरह बढ़ रही है। जो लोग पूँजीवाद की जड़ पर कुठाराघात करने को सदा तैयार रहते हैं व भी पूँजी क लिए अपना सवस्व निछावर कर डालते हैं। मैंने दो चार कवि सम्मेलनों म कवि भाइयों की यही लिप्सा देखी है। सब कवियों के सम्बन्ध म यह नहीं कहा जा सकता। मेरी राय म थोडे लोगों की गोष्ठियाँ बड़ी उपयोगी हैं। उनम कविता सुन्दर, स्वस्थ सामने आती है।'

शर्मा जी धुंधली सतह क उस पार देखने की शक्ति रखते थे। व मनुष्य को जितना स्वस्थ देखना चाहते थे उतना ही स्वस्थ वातावरण उन्हें साहित्य क क्षेत्र म प्रिय था। व सबसे पहले और सबसे अन्त म मनुष्य थे। ऐसे मनुष्य जो आत्मसम्मान बलिदान और आत्मीयता के सही अर्थ समझते हैं, मात्र शब्दों मे ही नहीं, व्यवहार म भी। व क्षुद्र स्वार्थों स ऊपर उठना जानते हैं और यह भी जानते हैं कि मनुष्य यदि स्वय ही झुकना न चाहे तो कोई उसे झुका नहीं सकता। आज वे नहीं हैं परन्तु उनकी मधुर स्मृति निश्चय ही मेरे जैसे व्यक्तित्व की बहुत बड़ी सम्पत्ति और शक्ति है। उनको याद करके मन निर्मल होता है और यह निर्मलता ही मनुष्य को जीना सिखाती है।

## द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण'

जो अकिंचनता की सीमा तक शालीन उदात्त है जिसका प्यार-स्नेह करुणा म सराबोर है जिसकी कुण्ठा अपनी निजी है पवित्र ह जो आडम्बरहीन, सकोची, प्रदशन म दूर और दम्भहीन है, उसी का नाम है द्विजेन्द्रनाथ मिश्र निर्गुण। हृदय ही मनुष्य है, इसक वे पुजीभूत आकार हैं। उनक व्यक्तित्व उनकी कृतियो उनक पत्रा, सबका भावबोध एक दूसरे म ओत-प्रोत ह। छदम उन्ह छू भी नही गया। आत्मप्रकाश स हजार कोस दूर रहन के कारण आज के प्रचार क युग म अक्सर ही उनका नाम छूट छूट जाता है।

पर यह छूटना क्या अभिशाप ह ? क्या इसी ने उनकी मौलिकता को अक्षुण्ण नही रखा है ? अपन का जीवित रखन के लिए तपना होता है। वही तप निर्गुण ने तपा है और मूल्य चुकाया है। नही तो आज के शुद्ध मिलावट क युग म उन्ह हम लोगा की तरह सीग कटा कर बछडो म शामिल होन क लालच म फस क रोनो और कूटने म ग्रय शक्ति व्यय करनी पडता और फिर भी तथाकथित युग बोध — मगतष्णा ही बना रहता।

और आलोचक ही क्या लखक की चरम हार्ईकोट है ? सामा य पाठक का स्नेह क्या उस कम बल दता है ? सच ता यह है कि अतिम निर्णायक वही है और निर्गुण को निश्चय ही लक्ष लक्ष पाठका का स्नेह मिला है। उ होन 'माया' के माध्यम स कथा साहित्य म प्रवेश किया। यह भी एक सीमा तक उपेक्षा का कारण बना। पर जनता तक पहुचने का साधन भी

तो वही बनी।

निगुण ने पुरुष होकर घडो आसू बहाए हैं।" या 'उनका भाव-बोध श्रीनिवास दास युग का है।' यह कहने वाले आलोचक हैं, तो यह घोषणा करने वाले भी है 'निर्गुण की रचनाए पढते समय हम शरत और प्रेमचन्द की याद एक साथ आती है।" 'निगुण जैसे कलाकार के होते हुए अन्य भाषाओ के कहानीकारो की ओर हम दौडने की क्या जरूरत है?' (दिनकर) 'उनमे शिल्प बहुलता के बीच सहजता की तलाश है।" (मधुरेश) "प्रेमचन्द की कहानियो की तटस्थता, सूक्ष्म दृष्टि, सरलता, सुबोधता के सूत्र उनकी कहानियो मे सहज ही प्राप्त है। रचना शिल्प की अकृत्रिमता और स्वाभाविकता मन का मोह लेती है।" (डा० लक्ष्मी नानायणलाल) 'वे उस पुरानी परिपाटी के कथाकार ह जिनमे चमत्कार कम, पर वास्तविक सत्य अधिक होता है। उनका जीवन का अनुभव बडा है इसीलिए उनकी कहानियो मे वैचित्र्य और विभिन्नता है, रस है, बल हे। (श्रीपत राय)।

साबुन तिवारी 'दायरे', 'घोडी और 'एक्सचेंज' जसी कहानियो के स्रष्टा को यदि साहित्य का इतिहास भूल जाना चाहता है तो इसम उसका अहित हो सकता है निगुण का नही। उन्होने 250 स अधिक कहानिया लिखी। वे सभी श्रेष्ठ है, एसा दावा तो वे स्वय भी नही करेंगे पर नाना स्रोतो मे आकर य शीपक तो श्रेष्ठता का दावा कर ही सकत हैं (1) दृष्टिदोप, (2) बच्चे, (3) पडोसी, (4) आसरा (5) लाल डोरा, (6) शोले, (7) आरपार, (8) जूठन, (9) टूटा फूटा (10) भूखे और प्यासे, (11) दायरे, (12) छोटा डाक्टर, (13) एक्सचेंज, (14) रसबूद, (15) घाडी, (16) तिवारी, (17) साबुन और (18) शिल्पहीन कहानी।

अन्तिम 6 कहानियो को निगुण ने स्वय चुनकर मेरी लाकप्रिय कहानिया म सकलित किया है।

निगुण जी विशुद्ध भारतीय परिवेश क चितरे हैं। कोई क्रान्तिकारी दशन उनके पास भले ही न हो, पर इस जटिलता के युग मे सरलता ही उन्हें प्रिय है। उन्होने स्वय कहा है कुण्ठा और सत्रास अपने व्यक्तिगत जीवन म जितना मैंन झेला है शायद ही किसी लेखक को भोगना पडा

हो। बचपन से लेकर आज तक भाग्य की इतनी ठोकरें मैंने खाई हैं, दूसरा व इतने आघात सहे हैं, इतनी उपेक्षा और अवमानना पाई है, बहुत बड़ा बनता। अपना भोगा हुआ यही सब अगर लिखता तो इन थोड़ी गई त्रासदी वालों से कहीं अधिक जानदार, चीजें पेश कर सकता था।'

उनका यह दावा नदारम की धृष्टता मैं नहीं कहूंगा। क्योंकि मैं जानता हूं कि उन्होंने इस पीड़ा को अपनी निजी बातों के रूप में अंतर में संजोकर रखने का प्रण किया हुआ है। नीलकण्ठ तो एक शिव ही थे, पर उस आदर्श की ओर उन्मुख होने वालों में निर्गुण अग्रणी हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उन्हें लिखा आप पाठकों के साथ इतना अन्याय क्यों करते हैं कि आदमी आपकी कहानी पढ़कर तिलमिला कर रह जाए। ऐसा मत कीजिए।' डा० आर्येन्द्र शर्मा ने सुझाया— आदमी को जिन्दा रहने की छाती ठोककर आगे बढ़ने की हिम्मत बंधाओ तो कुछ बात भी है।

सहज भाव से यह सुझाव स्वीकार करते हुए निर्गुण लिखते हैं, ' मैंने अपना रवैया ही बदल दिया है। दुखान्त चीजें लिखना छोड़ दिया है। अपनी सारी व्यथा सम्पूर्ण कष्ट कलेजे के भीतर दफना कर लिखता रहा हूं। कभी पाठकों को धोखा नहीं दिया ।''

काश यह कैफियत देने की आवश्यकता न पड़ती, पर उन्होंने अपने आलोचकों से कड़ी चोट खाई है। चोट खाना सरल प्राण व्यक्ति की नियति है।

उस चोट का आभास उनकी कहानियों में भी मिलता है। 'दायरे' में उन्होंने आधुनिक नारी की प्रतीक मिसेज खन्ना और अपनी कल्पना की महिमामयी नारी राधा का चित्रण कुछ ऐसे किया है जैसे आलोचकों को जवाब दे रहे हों। पर वह इतना सहज स्वाभाविक है कि कुछ भी ओढ़ा हुआ या सायास नहीं लगता। यह कहानी सहज ही उनकी प्रतिनिधि कहानियों में मानी जा सकती है, कला और शिल्प दोनों दृष्टियों से। अकिंचन की तरह रवीन्द्रनाथ के शब्दों में वे कहते हैं "न मिले सिंहासन, मुझे तनिक भी दुख नहीं। सबके चरणों के नीचे मेरी जगह हो। प्रभु मैं इतने से ही संतुष्ट हूं।'

भवभूति ने उस युग में इसी तरह आलोचकों से चोट खाकर घोषणा की थी, "जो लोग मेरी अवज्ञा करते हैं, वे बहुत बड़े हैं बहुत कुछ जानते हैं, परन्तु उनके लिए मेरी यह रचना नहीं है। कभी-न कभी कोई माई का लाल जरूर पैदा होगा, जो मेरी छाती-से छाती लगाकर मेरी आवाज़ सुन सकेगा। क्योंकि काल की कोई सीमा नहीं है और यह धरती बहुत विशाल है।'

पता नहीं, भवभूति के आलोचक कौन थे और कहा थे ? पर काल की सीमाएं लाघकर भवभूति आज भी जीवित हैं। निर्गुण भी जीवित रहेंगे और यह भी एकान्त सत्य है कि सब के चरणों के नीचे की जगह ही सबसे ऊंची जगह होती है।

निर्गुण अपनी कहानियों के पात्रों से जिन्हें उन्होंने अपने हृदय के रक्त से सींचा है अलग क्यों हो ? जो परिस्थितियों से निर्मित शैतान के भीतर से 'तिवारी' रूपी शिव को खोज लेता है जो एक्सचेंज की महिमामयी नारी आदेश की तरह स्फटिक मणि की तरह पारदर्शी है, जो 'साबुन' की मा जैसी उदात्त श्यामा की तरह सरलप्राण है जो शिल्पहीन कहानी के बलिदानी हरेकृष्ण की तरह अपने गौरव से अपरिचित है और जो घोड़ी की 'राजरानी की तरह अपनी आत्मा को पहचान कर विद्रोह करना जानता है वह अपने को हीन क्यों समझे ? क्या कहूं ? 'मुझे तो अपने पर आस्था नहीं है। लगता है कि जैसे सम्पूर्ण जीवन ही मेरा व्यर्थता से भरा है तब भला मेरी कहानियों का क्या मूल्य होगा ?" साबुन जैसी कहानी को लेकर क्यों व्यग्य करें "यह महज एक कहानी है एक रद्दी सड़ी कहानी जो इस सग्रह के सौंदर्य को नष्ट कर रही है। जैसे किसी ने मखमल के एक किनारे टाट का टुकड़ा लगा दिया हो। यह हर्गिज़ श्रेष्ठ कहानी नहीं है।'

होता यह है कि निर्गुण' के विद्रोह की आग आसुओं के भीतर से धधकती है, इसीलिए उसका दश मुलायम पड़ जाता है और उनकी उदात्त भावना अतिशय तरल हो रहती है।

लेकिन निर्गुण के आसू प्रयत्न के आसू नहीं हैं। उन्होंने सहज भाव से उन्हें भोगा है। वे उनके जीवन में ओत प्रोत हैं। उनके प्रारम्भिक

जीवन की एक मार्मिक घटना में इनका स्रोत ढूढा जा सकता है—

मेरी मा को कहानिया पढ़ने का बेहद शौक था। अपने एक निकट के सम्बन्धी के यहा से वे 'चाद' के दो अक पढ़ने को लेती आइ। सम्बन्धी पैसे वाले थे और हम लोग बाकायदा गरीब थे। मेरी मा रसोई में थी कि वकील साहब का नौकर आगन में खड़ा होकर जोर से पुकारकर बोला 'कहा हो बुआ जी? वह जी ने वे सोना कितावें मगाई हैं।" मा ने बिना एक शब्द कहे 'चाद' के वे दोनों अक उसे पकड़ा दिए।

रात पड गई। सब कोई छत पर सो रहे थे। पता नहीं कब आख खुल गई। सुना, थोड़ी दूर पर लेटी मेरी मा धीरे धीरे सिसक रही हैं। मैं चौककर उनकी खाट पर जा बैठा और बार बार पूछने लगा 'क्या रो रही हो? क्या हुआ?

नीम अधेरे में अपनी आखें पोछकर मा ने कहा, 'कोई बात नहा है तू जा सो जा।' पर मैं नहीं उठा। तब मा ने होले होले मानो अगोचर से कहा 'दो घटे बाद ही नौकर दौड़ा दिया। इतना भी सब्र न हुआ। मेरे पास पैसे होते तो मैं भी खरीद पाती 'चाद'।'

मा की वे आसुओं में डूबी बातें सुनता निरुपाय मैं निश्चल बैठा रहा। आज कितने साल हो चुके इस घटना को, पर मुझे बहुत पीड़ा हुई था वहुत दर्द लगा था अपनी मा पर, यह अभी तक याद है।

और इसके तीन साल बाद सन् 1931 में मेरी पहली कहानी 'अभागी' प्रकाशित हुई तब मैं महज 15 साल का था। पर तु तब तक मेरी मा इस दुनिया से चली गई थी। उस कहानी को यदि वह एक बार पढ लेती तो मेरा सम्पूर्ण लेखन सार्थक हो जाता। पर वह नहीं हुआ और वह कसक आज तक न गई।

यही कसक आसुओं में रूपान्तरित होकर ओत प्रोत किए हुए है निर्गुण के साहित्य को। पर भावबोध तो बदलता रहता है। उस युग में आसू शक्ति थे आज दुर्बलता है। आसुओं से जो भिगा दे, वह तब श्रेष्ठ रचना मानी जाती थी और अब वही निकृष्ट कहलाती है।

और यह भी दोष है उन पर कि वे आसुओं को अनुभूति न बना सके। अनुभव जब अभिव्यक्ति के लिए तड़प उठता है तभी वह अनुभूति

को मना पाता है। निगुण म वह तडप कम नहीं ह। सब कुछ भोग कर लिखा है उ्हान। उ्हान गाव की जीव त स्वाभाविक कहानिया लिखी हैं तो नगर क नारी पुरपा के सम्ब धो को लकर भी लिखा है। उ्हाने निम्न और मध्य दोना वर्गों की वेदना और आकाक्षा की सही तसवीर पश की है। जीवन के स्वस्थ और उदात्त पक्ष क कुशल चितरे है वे उघ डता कुरूपता क नही। प्यार और कला, आस्था और सवेदना सहानुभूति और मस्कृति उ ही के शब्दा म उनकी मा्यता क आधार स्तम्भ है। व मूलत आदशवा्दी हैं इसीलए नारी क यौवन और रूप व लावण्य स अधिक नारी की ममता-करुणा सहनशीलता आर दढता उ्ह प्रिय है। मानत हैं कि जो समाज म तुच्छ ह नगण्य ह हस्ती कुछ नही जसी ह, अभावा के बीच जि्दा है व अकिचन भी अपन भीतर ज्योति लिए है।

यही ता शैतान के भीतर शिव की खाज है। अपन रिश्त क विप्न ताऊजी म उ ह 'तिवारी मिल गए और अपनी पत्नी म 'श्यामा। उसके अटपट प्रेम के आग सब तक हार जात ह। स्वाधीन भारत का प्यार ब्डे ही ह वह जा काम विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए। कितनी तजी स बदल रहा है युग। साबुन व छोटा डाक्टर जसी कहानिया के अटपट प्रेम के दिन नहीं लौट नही सकेंगे जब। ढूढ पायेंगे क्या कभी हम शिल्पहीन' कहानी के उदात्त चरित्र हरेकृष्ण का सत्र को आशीर्वाद मेरा सारी दुनिया को प्रणाम। आगे जान वाला मुसाफिर हू सबका दुआए मरी। एक्सचेंज' जसी सूक्ष्म दष्टि और गहरी पहचान व उदात्तता अगर श्री निवास दान क युग की है तो वह युग भी वरेण्य है।

फिर कभी कभी तो एसा तडपात है कि विद्राह भभक उठता है। 'रस बूद के गरीब रमच ना का हाथ जलान म अमीर हलवाई गगासहाय की निस्मग क्रूरता भी अगर विद्राह की प्रेरणा नही द सकती ता साचना हागा कि हमारी नपुसकता कितनी ठोस है। विद्रोह तो शिल्पहीन कहानी पढ कर भी जागता है पर घाडी' की राजरानी का विद्र'ह अधिक युगानु कूल और यथाथपरक है। शिल्पहीन कहानी मात्र निममता का चित्रण करती है। घोडी निममता क प्रति विद्रोह का माग स्पष्ट करती है। शिल्पहीन कहानी की नई कहानी की एक सुप्रसिद्ध लेखिका की एक

वही अकिंचनता, वही स्नेह, वही संघर्ष की कहानी निर्गुण हर कहीं निर्गुण हैं 'मैं निर्गुणिया गुण न जानूँ' वाला निर्गुण।

तान्स्लाय ने 8 वर्ष के एक बालक के साहित्यकार बनने की इच्छा प्रकट करने पर उसे लिखा था 'आपकी लेखक बनने की आकांक्षा का अर्थ हुआ कि आप सांसारिक प्रख्याति सम्मान के प्रत्याशी हैं। यह केवल आकांक्षा का अहंकार है। मनुष्य की एक ही इच्छा होनी चाहिए कि वह दयार्द्र हो किसी को आघात न पहुँचाए, किसी से घृणा न करे, वह किसी का दोषदर्शी न हो। वरन प्रत्येक व्यक्ति के प्रति ममताग्रही हो।

निर्गुण जी यही तो हैं। इसीलिए साहित्यकार भी हैं क्योंकि साहित्य की इससे सुंदर सटीक व्याख्या और कुछ नहीं हो सकती।

## श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी

अनवरत सघप और अध्यवसाय—यही हमारे सुपरिचित कथाकार श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी का परिचय है। यू तो सन 1917 मे ही उ होन साहित्य के क्षत्र म प्रवेश पा लिया था, पर तु कहानी लेखक के रूप म वे सन 1924 म, जब उनकी पहली कहानी 'माधुरी म प्रकाशित हुइ थी, प्रतिष्ठित हुए। तब स न जाने कितने युग पलट चुक हैं पर तु वाजपयी जी मौन म थर गति से निर तर लिखत चले आ रह ह। प्रेमच द युग स लेकर अकहानी क इस युग तक उनकी कला न कोइ रूप न पलटा हो, यह बात नहीं पर तु व इतन सरल प्राण व्यक्ति ह कि अपन को कहा उभार नही पात। डगर डगर चलना ही जसे उनकी नियति हो।

प्रमच द न पहली बार मनुष्य को कहानी म प्रतिष्ठित किया। पर तु मनोविज्ञान के क्षेत्र म मानव चरित्र के साधारण पहलू स व आगे नही बढ सके। वाजपयी जी न साधारण म आग बढकर असाधारण परिस्थितियो म मानव चरित्र का मनोवज्ञानिक विश्लेषण करन का प्रयत्न शुरू किया। यद्यपि जन द्र और 'अज्ञय की तरह उनकी रचनाओ म शिल्पगत और कलात्मक निखार नही आ पाया, तथापि बोलचाल की सरल प्राजल भाषा म उ होन यथाथ के माध्यम स जीवन के व्यग्य को बडी निममता क साथ चित्रित किया। निम्न मध्य-वग क जीवन म गर्भित निराशाओ और असफलताओ का अवसान हा उत्थान निर तर अपन कथा-साहित्य को विस्तार दिया।

प्रतीको के माध्यम स स्थूल स सूक्ष्म की ओर चलन का प्रयत्न भी

उनकी कला म नही दिखाई देता। उस समय यह सम्भव ही नही था। विदशी कलाकारा म भी व अनुप्राणित नही हुए। परन्तु अपन दश म उभरन वाली प्रत्यक विचारधारा को उन्हाने आत्मसात करन का प्रयत्न किया। उनका मन लम्य मानव आत्मा की सावजनीन वेदना का चित्रण है। और वह चित्राकन ममस्पर्शी न हुआ हो यह बात नही। 'निदिया लागी' उनकी एक सुप्रसिद्ध कहानी है। उसम उन्हान इसी वेदना क माध्यम स हृदयहीन समाज का बोलता हुआ चित्र अकित किया है। रूप-यौवन के लाभी आज क मनुष्य को व्यक्ति का दु ख-दद जस छूता ही नहीं। उस कहानी न लकर 'चलत चलते' उपन्यास तक उनकी यात्रा काफी लम्बी रही है। वह अन्तर स्पष्ट दखा जा सकता है। चलत-चलत म उन्होन उसक नायक राजेन्द्र का आधुनिक यथाथ क आधार पर चरित्र चित्रण किया है। अथात यथाथ का भोगन का प्रयन्न किया है। वहा उन्हें एक साहसिक प्रगतिवादी के रूप म दखा जा सकता है। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी न इसी राजेन्द्र का स्खलन कै रूप म दखा और माना कि इस उपन्यास के गौरव के प्रति आस्थाहीनता का अकन हुआ है। परन्तु दूसरा आलोचक कह सकता है कि जस यहा तक पहुचकर लेखक न आदशवाद की व्यथता का पहचान लिया है और एक एम सत्य को स्वीकार कर लिया ह जिम हम झूठे आदशवाद के मोह म पडकर प्राय दबान की चेष्टा किया करत हैं। हा यह सत्य है कि शिल्प के स्तर पर उन्हें वैसी सफलता नही मिली। सहजता का अभाव उनकी सबसे बडी दुबलता है। इसीलिए इस उपन्यास में आतरिक सघष का सम्यक्, निर्वाह नही हो पाया। हो पाता तो बख्शी जी का आस्थाहीनता का आभास न मिलता।

वाजपयी जी कही कही दाशनिकता क चक्रव्यूह म भी फस जात है। परन्तु वह उनका क्षेत्र नही है, क्योकि उनक पास अपनी कोई स्पष्ट विचारधारा नही है। वे तो निम्न मध्य वग के जीवन क कलाकार है। इसीलिए इन दुबलताओ के बावजूद उनकी लोकप्रियता अक्षुण्ण रही ह। अकहानी के इस युग मे भले ही हम उनको भूल जाए लेकिन इतिहासकार उनके यागदान को कभी नही भुला सकेगा।

आज का साहित्यकार अपने को एकदम अजनबी समझता है। वाजपयीजी

जीवन भर अजनबी ही बने रहे। भले ही सन्दर्भ और अर्थ भिन्न रहा हो। उनकी विनम्रता, सादगी, अध्यवसाय-वृत्ति और संघर्ष, इनके कारण ही वे आज पिछड़े जान पड़ते हैं। साहित्य और जीवन उनके लिए दो नहीं रहे हैं। एक अति साधारण ब्राह्मण परिवार में उनका जन्म हुआ। शिक्षा भी विशेष नहीं हुई। शुरू से ही संघर्ष का सामना करना पड़ा। कुछ दिन अध्यापन किया। होमरूल लीग के पुस्तकालय में पुस्तकाध्यक्ष रहे। संसार 'विश्वम' और माधुरी जैसे पत्रों का सम्पादन किया। चार वर्ष तक हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के सहायक मंत्री रहे। कई वर्ष सिनेमा संसार में भी व्यतीत किए परन्तु बार-बार उन्हें अपने साहित्य-जगत में ही लौटना पड़ा।

संघर्ष का यह मुख भी अद्भुत है। यहीं पर जिस वेदना से उनका साक्षात्कार हुआ, वही उनकी साहित्यिक पूंजी बनी। और इसीलिए निम्न मध्य वर्ग के जीवन की निराशाओं और असफलताओं को सीमित क्षेत्र में ही सही वे मार्मिक अभिव्यक्ति दे सके।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अबोहर-अधिवेशन के अवसर पर वे साहित्य परिषद के अध्यक्ष चुने गए थे। तब उन्होंने जो अध्यक्षीय भाषण लिखा था वह उस समय तक के हिन्दी साहित्य की प्रगति का काफी सही लेखा जोखा प्रस्तुत करता है। उस पर उनके अध्यवसाय और ईमानदारी की स्पष्ट छाप है। पहली बार तभी उनसे मिलने का मुझे अवसर मिला था। मेरे मन में उनके प्रति सहज श्रद्धा थी। अस्वस्थ होने के कारण मैं अबोहर तो नहीं जा सका पर वहां जाते हुए वे दिल्ली में स्वयं मेरे घर आए थे। उनकी सहज सरलता और आत्मीयता से मैं तब अभिभूत हो उठा था। मैं इस क्षेत्र में नया था, परन्तु उन्होंने न केवल मेरी चर्चा ही की थी, बल्कि उचित मूल्यांकन करने का प्रयत्न भी किया था।

तब से लेकर आज तक मैंने उन्हें उसी तरह सहज सरल और सहृदय पाया है। कहीं भी कुछ भी नहीं बदला है। वस्तुतः वे इतने सरल प्राण हैं कि उनको लेकर अनेक चुटकले प्रचलित हो गए हैं। वे जानते हैं कि वे आज उपेक्षित हैं। उस दर्द को व्यक्त होते भी मैंने देखा है। परन्तु उसने उनकी कलम की धार को कुंठित नहीं किया। शायद इसके पीछे जीवन

की माग का आग्रह भी है। मैंने उनसे पूछा — आप अपनी रचनाए एक
मुश्त क्या बेच देते हैं रायल्टी पर क्या नही देते ?

यह सुनकर वे एक क्षण मौन रहे। फिर बोल उठे—'विष्णु जी, मैं
आपकी बात समझता हू लेकिन क्या करू। मुझे तुरत पैसा चाहिए।
मैं रायल्टी का इतजार कैसे कर सकता हू ?

तब मैंने सोचा काश। जीवन निर्वाह के लिए इन्होंने कोई और
रास्ता अपनाया होता। फिल्म जगत में शायद वे इसीलिए गए थे। पर
वह दुनिया उन जैसों के लिए नही बनी है। उन्हें वापस लौटना पडा। 68
वर्ष की उम्र में उन्हें जो परिश्रम करना पडता है उसे देखकर मन में जहा
पीडा होती है वहा एक प्रकार का आनद भी होता है। विश्वास होता है
कि जब तक उनके शरीर में प्राण हैं तब तक वे जीवन को जीते रहेंगे।

जब जब भी वे दिल्ली आते हैं प्राय मुझसे मिलने का प्रयत्न करते
हैं। नई दिल्ली के बरामदों में बडी देर तक उनसे बातें की हैं। अपने दुख-
दर्द की परिवार की बातें करते करते वे अतर्मुखी हो उठते हैं। उस दिन
मैं अस्वस्थ था। आग्रह के साथ वे मुझसे मिलने आए। बहुत देर तक बातें
मग्न रहे। फिर सहसा बोले— विष्णु जी, एक नाटक लिखना चाहता
हू। तुम तो इस कला में दक्ष हो। तुम्हारा सहयोग चाहिए।'

मैंने कहा— ऐसी बात नही है। फिर , मुझे बीच में रोककर
उन्होंने कहा— नही नही तुम मुझे बहुत-कुछ सिखा सकते हो। मैं
लिखूगा।

नही जानता उस नाटक का क्या हुआ ! पर उनकी इस मुक्त स्वीका-
रोक्ति से मैं असमजस में पड गया था। कितने सरल प्राण हैं वाजपेयी
जी। ऐसे ही एक दिन मैंने उनसे कहा— 'वाजपेयी जी क्या आपको
मालूम है कि आपकी एक कहानी का रूसी भाषा में अनुवाद हुआ है ?"

विस्मित विमूढ, वे कई क्षण मेरी ओर देखते ही रहे। उनकी वह
दृष्टि जैसे मुझे बेध रही हो। मानो कहते हो क्यों मजाक करते हो।
बोले — सच !"

मैंने कहा— 'मैं आपको अभी दिखाता हू। आपके पास इसकी
एक प्रति आनी चाहिए थी। विश्वास रखिए, इसका पारिश्रमिक आपको

नाम स उनके हिसाब म जमा होगा।

व चकित स बोल—' इसका पैसा भी मिलगा ? कस ? कब ?'

मैंन कहा— जब आप मास्को जाएग, तब ।"

व बडे जोर म हस । और फिर बालसुलभ सरलता स पुस्तक दखत रहे । अन्त म गदगद होकर बोल— 'विष्णु जी आज आपन सचमुच "

वाजपयी जी हिन्दी साहित्य क एक एस पात्र होकर रह गए ह जिनक साथ न तो समय न याय किया और न आलोचको ने । पूजीवाद के शापण का युग अब बीत गया । कुण्ठाओ का स्वर दन का युग भी अब बीत रहा है । परम्परा म मुक्ति की छटपटाहट और उस पीडा का झलन का दावा करने वाले कथाकार आज अत्यन्त कटु हो उठे हैं। वाजपयी जी उनकी दष्टि म जीन की अनधिकार चेष्टा कर रह हैं।

हम एक ऐसे युग म आ गए है, जिसकी अवधि निरन्तर क्षीण हो रही ह। और प्रयत्न करन पर भी उसकी गति के साथ एकात्मकता बनाए रखना असम्भव है । सुधार, आदश, क्रान्ति, प्रगति प्रयोग, यथाथ सभी स अनुप्राणित हात हुए भी वाजपेयी जी आज क युग म अजनबी बन कर रह गए हैं ।

लेकिन युग पलट जाए, इतिहास भी उनका भूल जाए परन्तु उनका सघष कभी समाप्त नहीं होगा । सहज सरल भाव स अपनी डगर पर चलते हुए वाजपयी जी अपनी कला साधना स अवकाश ग्रहण नही करेंगे। युग को पकडने का उनका प्रयत्न भी कभी समाप्त नहीं होगा । शिल्प भले ही उनके लिए *अगम्य रह जाए परन्तु प्रेमचन्द युग की सतुलित* राष्टीय चेतना म आरम्भ होन वाली उनकी साहित्य यात्रा निम्न मध्य वग के कटु यथाथ की अभिव्यक्ति तक पहुचकर ही समाप्त नहीं हो जाएगी। मानवात्मा की सावजनीन वेदना, जिसको उन्होंन स्वय भोगा है, उनके कथा साहित्य मे निरन्तर विस्तार पाती रहगी ।

हम नही जानत कि उनके भीतर सम्मान और स्थान की भूख अभी कितनी शेष है परन्तु इतना अवश्य जानत हैं कि वे थके नहीं है । उनकी यात्रा का मुक्त प्रशस्त पथ अभी उन्ह पुकार रहा है।

# श्री रामवृक्ष बेनीपुरी

उस दिन सुना कि श्री रामवक्ष बनीपुरी दिल्ली आ गय है। मेडिकल इन्स्टीट्यूट मे उनका इलाज हो रहा है। वे बहुत दिनो से पक्षाघात म पीडित थ। फिर सुनने मे आया कि धीरे धीरे स्मृति भी क्षीण हो चली ह। वाणी और विचार का सतुलन बिखर गया है।

मन को अच्छा नही लगा। एक कसक सी उठी। समय की यह कसी असमर्थता है। जो किसी समय शक्ति का पुज मान जाते रह व ही एक दिन कैसे एक अशक्त अबोध बालक की तरह हो गय। एक राहुलजी थे उनकी असमर्थता देखकर हृदय न जाने कसा कैसा हो आता था। पर वे तो जगतपति से भी ऊपर उठ गए थे। बस कभी कभी क्षण के सहस्रवें भाग मे असमर्थता की अनुभूति उनकी आखो मे आसू ला देती थी। एक नवीन जी थे जो अपनी असमर्थता को अपनी आखो स देखत हुए धीरे-धीरे छीजत जा रहे थे। पीडा जैसे उनका दर्शन बन गई थी। और अब बेनीपुरी जी ह कि जिनकी सारी अभिव्यक्ति एक जड और निरीह 'जी जी' जो म सीमित हो गई है।

राहुल जी इलाज के लिए रूस जाते हुए दिल्ली रुके तब मैंने मराठी के सुप्रसिद्ध नाटककार मामा वरेरकर से कहा था— मामा, राहुल जी बहुत अस्वस्थ हैं। क्या देखने नही चलेंगे ? '

मामा का उत्तर था— 'नही।

मैंने पूछा—' क्यो ?"

मामा बोले—"मैं समर्थ की असमर्थता नही देखना चाहता।"

और वे नही गए थे। लेकिन मैं अपने को नही रोक सका। राहुल जी को भी कइ वार देखा था। बेनीपुरी जी को भी देखने के लिये गया। म ध्या का समय था। आल इडिया मैडिकल इस्टीटयूट के किसी तल्ले के एक कौन म उनको ढूढ सका। वह सूना सूना कमरा, निता त उदास वातावरण, एक ऊचे पलग पर मली सी गुदडी मे लिपटे हुए बनीपुरी जी। एक दा व्यक्ति और थे। एक महिला भी थी। मेरे साथ भी दा मित्र थ। हम दखकर वेनीपुरी जी क मुख पर फली हुई वेजान स्मिति कुछ सजीव हुइ। उ होन पहचानने की चेष्टा की। सम्भवत अपन अ तरतम मे पहचाना भी हो पर हर प्रश्न का एक ही उत्तर उनके पास था—जी जी 'जी।

काश! मैं उनके अ तर की पीडा का शब्द द पाता। इस असमयता की अनुभूति स मेरा मन एक गहरे दद से टीस उठा। मामा के वे श द मूत हा आए "मैं समय की असमथता नहीं देखूगा।' काश! म भी एसा कर पाता। कसे लग रहे थे वे, जस पुष्पमाल्य के सारे पुष्प झर गए हो जैस कोई वक्ष जीवन रस के अभाव म स्थाणु बन कर रह गया हो। यही वह व्यक्ति है जिसन अपनी जीव त लेखनी से हि दी साहित्य को व मशक्त शब्दचित्र दिए जो भारत के मूक मानव का प्रतिरूप है। माटी की मूरत म सचमुच भारत के अ तस और बाह्य, दोना रूपा का माथक सम वय हुआ है। उनके गद्य मे गीति और नाटय, दोना ही रूप मुखर हुए ह। लकिन अब जो मेरे सामने एक मूरत है वह उमग और उल्लमित होन को बेचन है। पर नियति जस उस जकड लेती है। क्या सचमुच य व ही बेनीपुरी जी हैं जिनक साथ मैंने कोटा म अपन जीवन के कुछ सर्वोत्तम क्षण विताये थे ? जिनकी याद आज भी तन मन को तरगित कर दती है। अनवरत हँसी के वे ठहाके आज भी जैस कानो म रस उडेल रह हैं।

अखिल भारतीय हि दी साहित्य सम्मेलन का कोटा अधिवेशन कई कारणा स इतिहास मे अमर हो गया है। वह जस सम्मेलन का अतिम अधिवेशन हो। उसके बाद आज तक कोई अधिवेशन नही हुआ। अपना जनतात्रिक रूप खोकर सम्मेलन अब सरकार के हाथ म कठपुतली बन

कर रह गया है।

वह सम्मलन इसलिये भी याद आयेगा कि उसके सभापति ने राष्ट्र-नताआ की निन्दा के लिए जिन शब्दा का प्रयोग किया था वे कटु स कटु आलोचक को भी लजा दे सकते ह। उन्होने खुले अधिवेशन म जिस प्रकार श्री चन्द्रवली पाडे का अपमान किया उसस सभी लोग त्रस्त हो उठे थे। श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर के शब्दो मे कहा जा सकता है— "इस व्यक्ति न पच्चीस साल की कमाई तीन दिन मे खो दी।"

लेकिन इस सबकी चचा असगत है। सगत है केवल बेनीपुरी जी की कथा। मनाईस दिसम्बर का खुले अधिवेशन मे एक व धु न एक प्रस्ताव पर बोलते हुए भारत सरकार के तत्कालीन शिक्षा मत्री मालाना अबुल कलाम आजाद क सम्व ध म बहुत ही गदा भाषण दिया था। सभापति उन बन्धु का समथन कर रहे थे। उस समय बोलने के लिय खडे हुए श्री रामवक्ष बनीपुरी। वे बोल और खूब बोले। समूचे वाता वरण पर जस छा गए हा। शब्द आज याद नही लेकिन उनका प्रभाव अब भी नस मन को आश्वस्त किय हुए है। उस दिन भी सारी सभा आश्वस्त हा उठी थी।

किसी तरह यह सम्मेलन समाप्त हुआ और मुक्ति की सास ले हम लोग निकल पडे घूमन। चम्बल पर बाध बनना आरम्भ हो चुका था। सबसे पहल वही पहुचे। पानी बहुत कम था। वह चचल नदी उस दिन शान्त थी। शायद इसीलिए बनीपुरी जी अतिशय चचल हो उठे। चचल और लाग भी हुए थे पर इस रूप म नही।

हमन प्रपात देखा किला देखा, पुरातत्व के म दिर दखे। सुन्दर दृश्य, सुन्दर प्रतिमायें, शिव, विष्णु, महिषासुर मदनी सभी की खडित अखडित मूर्तिया अधर शिला, प्रकृति की रूप लीला लेकिन इन सबस ऊपर उठकर बेनीपुरी जी की मुक्त हसी जो मुखर हुई वह आज भी नहा भलती। वे किसी से चुहुल करन से नही चूकते थे। लेकिन चोट करत थे अपन पर। जो अपने पर हँसता है वही सचमुच हँसता है। इसलिए उनकी चुहुलबाजी म न कटुता थी, न द्वेष। थी ऐसी जि दादिली जा सबका गुदगुदा दती थी। साथी भी कम जिन्दादिल नही थे। सवश्री

कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, गोपाल प्रसाद व्यास, आर० सी० प्रसाद सिंह, प्रोफेसर कपिल, देवेन्द्र सत्यार्थी पद्मावती शबनम। कितने ही नाम इस समय याद आ रहे हैं। लेकिन बेनीपुरी जी की मुक्त धारा अपने ही जीवन को परे कर बह रही थी। पत्नी पुत्र पुत्र वधू चुन मुन, सभी की चर्चा हो गई। वह मात्र कल्पनाओं के लोक में विचरने वाले भावुक आदर्शवादी नहीं थे। उनमें व्यवहार-कुशलता और सांसारिक हितों की रक्षा करने की अच्छी खासी दक्षता थी। बोले—"मैं अपना स्मारक आप ही बना रहा हूं। कौन जाने मेरे पीछे कोई बनाए या नहीं बनाए। गांव में आलीशान मकान बन रहा है। वह गांव जहां मैंने जन्म लिया जहां भूकम्प के समय महात्मा गांधी पधारे—

फिर सहसा अट्टहास करते हुए बोल उठे— 'दो सौ बीस बोरे सीमेंट ले जा रहा था तो सौ बोरे नदी में बह गए। यह वही नदी है जिसकी मिट्टी उठाकर गांधी जी ने कहा था—इस मिट्टी में तो सोना पैदा हो सकता है।'

किसी मित्र ने पूछा— आपके पास इतना पैसा है?"

बेनीपुरी जी तुरंत बोले—"पुस्तकों से इतना पैसा आ जाता है कि क्या करूं।"

बेनीपुरी ग्रन्थावली का प्रकाशन भी तो उनकी व्यावहारिक सूझ बूझ का ही परिचायक है। लेकिन उस दिन तो वे हम सबको हँसाने का व्रत लिए हुए थे। मकान से पुत्र पर आ गए। और उनके प्रेम विवाह की चर्चा करते हुए बोले— मैंने तो बहू से कह दिया है कि यह सीता की भूमि है। यहां चौदह वर्ष का बनवास मिलता है। पर बेटी, कोई चिन्ता नहीं, पुत्र पैदा किए जा।'

फिर बड़े जोर से अट्टहास किया और बोले— मेरे पास जब श्रीमती का पत्र आया तो मैंने अपने पुत्र से कहा—देखो बेटा, तुम्हें ही नहीं हम भी स्त्रियां पत्र लिखती हैं।

तब कितना हंस थे हम लोग। लेकिन वे थे कि अपनी पत्नी को भी क्षमा नहीं कर सके। पर इस यात्रा में मात्र परिवार की ही चर्चा नहीं हुई, मित्रों की भी हुई और राजनीति की भी छूट नहीं रही। श्री जयप्रकाश

नारायण किम प्रकार जेल मे भागे, यह सब भी उ होने सुनाया। उस दिन उन अनवरत ठहाको के बीच अपनी शक्ति और दुबलता को मानो उन्होने मूत कर दिया। उम समय कोई कह सकता था कि उन्हें कभी दमे का रोग भी हुआ होगा ।

उस दिन आल इडिया मेडिकल इस्टीटयूट के उस उदासी भरे ठडे कमरे मे ये ही सारे चित्र मेरे मानस पर उभरत रह और मुझे त्रस्त करत रह। निश्चय ही उनके चेहरे पर उस समय भी जवानी थी। आखो म चमक थी। लेकिन जैसे किसी न उडते हुए पछी के पख नोच लिए हो, ज से कोई तेजस्वी नक्षत्र घने कुहरे म घिर गया हो।

याद आ गए उन्ही के शब्द। परिम म टक्सीवाले ने उनसे पूछा, "आप भारतवासी है।"

"हा भाई, मैं भारतवासी हू।' उनका उत्तर था।

क्या करते हैं आप?'

'लेखक हू।'

सहमा टैक्सी रुक गयी। टैक्सीवाले ने नीचे उतरकर बेनीपुरी जी को बाकायदा सलाम किया। गन्तव्य स्थान पर पहुचन पर किराया लेने मे भी इन्कार कर दिया।

गदगद हाकर बेनीपुरी जी न पूछा, "हमारे देश मे लेखक का यह सम्मान कब मिलगा?"

अभी यह प्रश्न अनुत्तरित है।

और भी कई बार उनसे मिलना हुआ। दिल्ली म उस बार जब उनके नाटक—अम्बपाली' का मचन हुआ था। तब भी जब वे बेनीपुरी ग्रन्थावली निकालन म तल्लीन थ। वही उत्फुल्ल चेहरा वही मधुर मादक स्मिति मुक्त मुखर अट्टहास

उ होने असहयोग युग म पढना छोडा और जीवन भर सघर्ष करते रह। उन्होन गरीबी का स्वय अनुभव किया। अभाव व अन्याय को अपने ऊपर झेला। तभी तो उनकी कृतिया मे इन सबकी सशक्त धडकन सुनाई देती है। स्वतत्रता सग्राम हो या विधानसभा, पत्रकारिता हो या साहित्य का क्षेत्र, सम्पादन हो या सृजन, बेनीपुरी जी शक्ति और गति म

विश्वास करते थे पर उस शक्ति का आधार घृणा नहीं, आत्म बलिदान है। वे महत्वाकांक्षी थे पर वे भावुक आदर्शवादी भी थे। उनके अन्तर में जैसे एक अग्नि सुलगती रहती थी। यही अग्नि उन्हें सदा सक्रिय बनाये रहती थी। जब तक उन्होंने अपने योग से दोनों को साधा, वह अग्नि उन्हें शक्ति देती रही। पर सन्तुलन के बिगड़ते ही उस अग्नि पर जैसे राख छा गई जैसे राजनीति के जादूगर ने उसे अपने जादू से शान्त कर दिया।

कौन आंक सकेगा उस व्यक्ति की व्यथा को जिसकी जीवन सरिता के ऊपर शाश्वत हिम का अधिकार हो गया था। इसलिए उन्हें न अनुभूति के सुन्न हो जाने का दुख था, न चेतना के सना खो देने की पीड़ा।

मैं उन्हें देख रहा था, देखे जा रहा था। सहसा लगा जैसे वे अब खिलखिला उठेंगे और सदा की तरह कहेंगे—'कोई चिन्ता नहीं विष्णु जी, मैंने बहुत कुछ किया, अभी भी बहुत-कुछ करूंगा। तुम सुनाओ, तुमने क्या लिखा है? किसी से प्रेम व्रेम चल रहा है कि नहीं? मैं तो भाई आजकल मृत्यु के साथ पूर्व राग में लीन हूं। पूर्ण राग होते ही सर्जन के स्वर साधूंगा और उल्लास के गीत गाऊंगा

बस यही उल्लास भरा क्षण बेनीपुरी जी का था। यही अमर रहेगा।

## श्री उदयशकर भट्ट

श्री उदयशकर भट्ट उन व्यक्तियो म थे जो सतत साधना के बल पर सफलता की ऊचाई को छू लेत हैं। जीवन के भोर म जिस अभाव और अन्याय के माग से होकर उन्हे अपनी मजिल की ओर बढना पडा था वह स्थिति बहुतो का हतोत्साहित कर सकती है। लेकिन कुछ व्यक्ति एम होत हैं जिनकी प्रतिभा चुनौती पाकर ही निखरती है। भोर की उस वेला म उन्होने साधुओं और यतियो की कुटिया के चक्कर काट, फकीरो, मजदूरो और भिखारियो के सम्पर्क म आए, गाव की चौपाला पर आल्हा का ओजस्वी स्वर सुना और पत्थर काटने वालो का सगीत सुनत-सुनत रातें बिताइ। साधनाजन्य यह अनुभूति ही कालान्तर मे उनकी सफलता का मेरुदण्ड बनी। उनके सम्पर्क मे आने वाले बहुत कम व्यक्ति उनकी आखो म झाककर इस तथ्य को पहचान सके थे। अकेलेपन और असामाजिकता की उनकी यह प्रवृत्ति बहुतो के लिए अपरिचित ही रह गई, क्योंकि वह ऐसी स्थिति मे आ गए थे जहा वह किसी को खीचते नही थे, बल्कि दूसर व्यक्ति ही उनकी ओर खिचत थ।

इस जीवन की कुछ झाकी उनके कुछ उपन्यासो म मिल सकती है। परम्परा की सकीर्णता पर प्रहार करत हुए दम्भ और ढोग का उन्होने बडी निर्ममता के साथ निरावरण किया है। 'सागर लहरें और मनुष्य' जीवन मे गहरा पैठकर प्राप्त की गइ इसी अनुभूति का मूर्तिरूप है। वह कुलीन ब्राह्मण परिवार के थे, लेकिन मछुओ क जीवन को समझने के लिए — बीच मे जाकर रहने मे उन्हें तनिक भी सकोच नही हुआ। उनका

प्रकृतिवाद नहीं है। इसलिए इस उप यास की महत्त्वाकांक्षिणी नायिका रत्ना अपने आसपास की परिस्थितियों म जूझती हुई परम्पराओं को चुनौती दे सकी है।

पजाब पवास के समय वह भगतसिंह और भगवतीचरण जसे क्रांति कारियों के सम्पक म आए। उसी सम्पक का परिणाम है 'क्रांतिकारी' नाटक। इस नाटक की दुबलता शिल्प की दुबलता है, कथानक की नहीं।

एक ओर उन्होंने अपने अनुभव से जीवन के निमम यथाथ को पाया था, दूसरी ओर विरासत म मिली थी प्राचीन सस्कृति की धरोहर। इस धरोहर को आधार बनाकर उ होने अनक रचनाओं का सजन किया। उनके विचारों स मतभेद हो सकता है लेकिन अपने लेखन के प्रति वह इमानदार नहीं थे यह दोष उनके विरोधी भी उन पर नहीं लगा सकते। इसीलिए जहा उन्होंने प्राचीन सस्कृति का स्वर घोष किया, वहा वतमान की कुघडता पर भी चोट करने स नहीं चूके। इस चोट का माध्यम था उनका सशक्त व्यग्य। एक समय इसी कारण उनके अनेक एकाकी आदश बन गए थ। दस हजार 'पर्दे के पीछे, बाबूजी, 'बडे आदमी की मृत्यु' और 'बीमार का इलाज' ऐसे ही अनक उदाहरण हैं। उनका व्यग्य मात्र निषेधात्मक नहीं है, रचनात्मक है।

नाटक के क्षेत्र मे उनकी मौलिक देन है उनके भाव्य नाटय जो मनुष्य के आन्तरिक सघष को चित्रित करते है। 'विश्वामित्र' मात्र पुराण प्रसिद्ध ऋषि नहीं है साधारण मनुष्य भी है जो अपने अह मे पीडित है। *मेनका एक ऐसी समर्पिता नारी का प्रतीक है जो समपण द्वारा नर की* स्वामिनी बनती है। इसके विपरीत उवशी नारी के अह का रूप है। वह अह जो जीवन म उत्थान और पतन की सृष्टि करता है। मत्स्यग धा म नारी का यौवन कब और कैसे अभिशाप बन जाता है यही तथ्य रूपायित हुआ है।

भट्ट जी न अनेक विधाओं द्वारा अपने को व्यक्त किया है। अमूर्त विचारों के लिए कविता को अपनाया, लेकिन जीवन का विशद चित्रपट अकित करने के लिए नाटक और उपन्यास का परिधान ग्रहण किया। मात्र विचारों के लिए निब ध की अभिव्यक्ति स्वीकार की। वह मानते

थे कि नई कविता मात्र बौद्धिक है और बुद्धि तत्त्व ही कविता का अन्तिम तत्त्व नहीं है, केवल एक प्रयोग है। उन्होंने स्वयं भी बौद्धिक कविताएं लिखी हैं। लेकिन ये प्रयोग उन्होंने मात्र प्रयोग के लिए नहीं अपने सन्तोष के लिए किए। साधारणतया मनुष्य मूर्त से अमूर्त की ओर बढ़ता है। लेकिन वह अमूर्त में मूर्त की ओर बढ़े। उन्होंने इस विकास को अपने असन्तोष पर आधारित नहीं किया गति और तीव्रता को इसका कारण माना।

इन सब प्रयोगों के बावजूद वह मध्ययुगीन ही थे। आधुनिक हिन्दी कहानी उन्हें कभी आकर्षित नहीं कर सकी। बंगला कहानी ही उनका आदर्श बनी रही। वह कुंठाओं के विशद चित्रण में विश्वास नहीं करते थे। उनका पराभव ही उन्हें प्रिय था। पीढ़ियों के संघर्ष को वह विकास की स्वाभाविक प्रवृत्ति मात्र मानते थे। परम्परा से मुक्ति पाने का अर्थ उनके लिए विकृतियों और रूढ़ियों से मुक्ति पाना था। उनके लिए संस्कृति सतत प्रवाहमान थी। नये मूल्यों के लिए पुराने मूल्यों का हनन करने में वह विश्वास नहीं करते थे। आंसू को वह साहित्य की दुर्बलता नहीं मानते थे। चिन्तन उनके लिए दर्शन का आधार था, साहित्य का नहीं। साहित्य है तो उसमें आवेश और आवेग अनिवार्य हैं। वही साहित्य उनके लिए सत्य था जो मस्तिष्क पर आघात करता हुआ हृदय विचलित कर देता है।

व्यक्तिगत जीवन में दूर से देखने पर वह अत्यन्त गैर रोमान्टिक जान पड़ते थे। उनकी वेशभूषा इस भ्रम को और भी बल देती थी। मित्रों में वह जल्दी ही नहीं घुलमिल जाते थे, क्योंकि आलोचना और आक्षेप उनको विचलित कर देते थे। उनके लिए हास-परिहास की एक सीमा थी—शिष्टाचार की सीमा। फिर भी मुक्त अट्टहास करते मैंने उनको देखा है। उनके अन्तर में वास्तव में वह हृदय था जो सारे संघर्षों के बावजूद चिर-युवा रहना चाहता था इसलिए वह युवा मित्रों के बीच बैठकर जब हँसते थे। मुक्त बातें भी करते थे। लेकिन उनकी सांस्कृतिक धरोहर उन्हें रुझाए यौवन पर विचार कर देती थी।

मेरे निमंत्रण पर वह एक बार शनिवार समाज में बोलने के लिए

आए। उनका परिचय देते हुए मैंने उन्हें 'वयोवृद्ध' साहित्यकार कहा था। इस वयोवृद्ध शब्द को पकडकर सहसा कई मित्र हँस पडे। दूसरे दिन फोन की घंटी बज उठी। भट्टजी कह रहे थे— मुझे तुमसे अत्यन्त आवश्यक काम है तुरन्त आओ।'

पहुचने पर किंचित क्रुद्ध होकर उन्होंने कहा— मुझे तुमसे यह आशा नहीं थी। कल भारी सभा मे तुमने मेरा अपमान किया।

हतप्रभ सा मैं बोला—' समझा नहीं, आप क्या कहते हैं ? '

उन्होंने कहा— तुमने मुझे 'वयोवृद्ध' कहा। क्या मैं तुम्हें बूढा दिखाई देता हूं ! मैं तुम्हारे जैसे युवकों से अधिक युवक हूं "

निमिष मात्र में सब कुछ स्पष्ट हो गया। उन मित्रों की अशिष्टता ने उन्हें उद्विग्न कर दिया था इसीलिए उनका चिरयुवा हृदय व्यथित हो उठा था। अत्यन्त विनम्रता से मैंने कहा— वयोवृद्ध से मेरा आशय आयु से नहीं था, आपकी साहित्य सेवा को देखते हुए मैंने इस शब्द का प्रयोग किया था।"

इसी प्रकार एक बार आकाशवाणी के उनके कार्यालय मे कई साहित्यिक बन्धु एकत्रित हुए थे। उस दिन श्री भी थे। बातें करते करते सहसा उन्होंने दोनो पैर उठाए और मेज पर फैला दिए। जान बूझकर उन्होंने ऐसा नहीं किया था। अकसर ही सीमाओं का ध्यान रखना वह भूल जाते थे। वह मानते हैं, मित्रों के बीच में सीमा कैसी ? लेकिन भट्ट जी कायदे के आदमी थे। भडक उठे बोले—' यह क्या बदतमीजी है पैर हटाओ।'

श्री ने तुरन्त पैर हटा लिए। कहा— मेरा उद्देश्य आपका अपमान करना नहीं था। मैं आपकी बहुत इज्जत करता हूं। मैंने तो सहज भाव से "

भट्ट जी, मुसकराये— सहज भाव इतना विकृत होता है क्या ? अच्छा बोलो क्या पिओगे ?'

पीने की इच्छा तो काक्टेल की है पर असली काक्टेल आप क्या पिलाएंगे ! दो लैमन मंगा दीजिए, उन्हीं को मिलाकर काक्टेल का

आन द ले लूगा।" और क्षण भर म वह स्तब्ध वातावरण अट्टहास म गूज उठा।

इन प्रमाणो की कोई सीमा नही है। गत वष उनके सावजनिक सम्मान के अवसर पर उनकी साहित्यिक मा यताओ क सबध मे मैंने एक इटरव्यू लिया था। उसको लिपिबद्ध करन के बाद स्वीकृति क लिए जब उनके पास भेजा तो सहसा टेलीफोन की घटी बज उठी। उस ओर से व्यथित स्वर म भट्ट जी कह रहे थे—'यह तुमने क्या लिख दिया? क्या मैं सचमुच कथावाचक सा लगता हू। मेरे मरन के बाद तुम कुछ भी लिख सकते हो लेकिन जीते-जी तो ऐसा अ याय मत करो। तुमने और भी बहुत-कुछ उलट पलट दिया है। मैं तुम्हे अपना ही समझता हू इसलिए यह सब कह रहा हू। नही तो

म स्तब्ध रह गया क्योकि जो कुछ मैंने लिखा था उसका उद्देश्य आक्षप और कटाक्ष तो कभी हो ही नही सकता था। मैंने कहना चाहा था कि दूर स दखन पर किसी को उनके कथावाचक होने का भ्रम हो सकता ह। पर पास पहुचन पर उनके नत्रा का ममभेदी तेज सामने वाले व्यक्ति को अभिभूत कर दता है। एका तप्रिय होने पर भी मित्रो से उ हे प्रेम ह और किसी भी गोष्ठी मे वह पूरे आन द का अनुभव कर सकत हैं।

सुनकर भट्ट जी बोले—"नही नही, तुम मुझे नही जानत। समाज म जाना मुझे तनिक भी प्रिय नही है। भीड स मैं घबराता हू। मैं आज तक लाल किले के स्वत त्रता समारोह म नही गया। मैं अकेला हू बिल-कुल अकेला।"

मैं समझ गया कि उ होन इतना कुछ सहा कि अब उ ह उस उदा सीनता से मुक्त करना असम्भव जैसा ही है। जब भी ऐस अवसर आए मैंने उनको चुपचाप पीछे हट जाते दखा। प्रत्याक्रमण उ हान कभी नही किया। एक साहित्यिक ब धु के विवाह मे हम लोग साथ साथ गए थे। हास परिहास की कोई सीमा नही थी, लेकिन आयु की तो एक सीमा होती ह। भट्ट जी हम सब म वयोवद्ध थे। एक नव-युवक मित्र न परिहास के आवेग म कहा—"भट्ट जी, भट्ट का एक अथ सुराख भी होता है। अगर हम आपको "

और वह मित्र जोर से हँस पडे। वह शरारत से छलछलाती हँसी भट्ट जी मुसकरा कर रह गए। लेकिन आँखें क्या कभी किसी को धोखा देती हैं? उनकी ओर देखते ही मैं सकपका गया। क्षण भर के लिए जैसे एक अशुभ मौन ने वातावरण को ग्रस लिया हो। स्टेशन आने तक कोई कुछ नहीं बोला। भट्ट जी चुपचाप उतरकर चले गए। गाडी फिर चल पडी। लेकिन वह नहीं लौटे। अगले स्टेशन पर ही मैं उनको ढूँढ सका। पूछा—"आप कहाँ रह गए थे?

वह बोले—'मेरे एक शिष्य मिल गए थे उन्हीं के साथ बैठ गया था।'

मैंने कहा—तो अब आइए।

मेरा घर इसी स्टेशन के नजदीक पडता है यहाँ से चला जाऊँगा।

वह चले गए और उन नवयुवक मित्र का हम पर बड़ा क्रोध आया। कहा—'जब वह परिहास में रस लेते हैं, दूसरे पर हँस सकते हैं तब सह क्या नहीं सकते?

यह भी एक तर्क हो सकता है, परन्तु शिष्टता की एक सीमा होती है। साधारणतया पुराने व्यक्ति उन सीमाओं में बँधे रहते हैं। फिर भी भट्ट जी की प्रतिक्रिया कभी अप्रियता की सीमा तक नहीं पहुँची जैसे कि उनके पहले की पीढ़ी के लोगों की कभी कभी पहुँच जाती थी। आज के युग में भी पहुँच जाती है। स्वयं भट्ट जी ने श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय के सम्बन्ध में एक घटना सुनाई थी। तब वह युवक थे। किन्हीं बुजुर्ग के साथ उपाध्याय जी से मिलने गए। परिचय होने पर उपाध्याय जी ने पूछा—इधर आपने हमारे 'चुभते चौपदे' पढ़े?'

भट्ट जी बोले—'जी हाँ पढ़े हैं।'

उपाध्याय जी ने पूछा—कैसे लगे?'

भट्ट जी बोले—'मुझे तो अच्छे नहीं लगे।

कुछ और भी चर्चा हुई थी। उपाध्याय जी ने सहसा नौकर को आवाज दी। कहा—लालटेन लेकर इन सज्जन को रास्ता दिखा दो।'

उन दिनों सम्भवतः पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र दिल्ली से हास्यरस का एक साप्ताहिक निकालते थे। एक दिन देखा कि उसके मुखपृष्ठ पर भट्ट

जो था एक बडा सा चित्र छपा है। परिचय के स्थान पर लिखा है—"आजकल आप आल इंडिया रेडियो म है। लेकिन रडियो के र क ऊपर ए की मात्रा वास्तव म अनुस्वार की एक बडी सी बि दी थी। *अगले पष्ठ की मात्रा क कारण वह ए की मात्रा मालूम होती थी।* पष्ठ उठाकर पढने पर 'रडियो के स्थान पर 'रडियो' श द पढा जाता था। उस समय कोई भी इस रहस्य को नही पहचान सका। भट्ट जी बहुत प्रस न हुए कि उग्र जी न उनका सम्मान किया है। पर तु घर जाकर वह उस रहस्य को पहचान गए। अगले दिन जब मैं उनस मिला तब वह कुछ उत्तजित अवश्य थे। फिर भी बडी शिष्टता क साथ एकाध वाक्य कह कर ही इस प्रकरण को समाप्त कर दिया। आक्रोश का उफान मैं तब भी उनम नही देख सका। वास्तव म अपन बचपन और यौवन म उ ह जो कुछ सहना पडा था उसी के कारण वह अ तमुखी हो गए थे। वदना उ हे होती थी पर उसे पीना ही उ हें प्रिय था।

भट्ट जी के जीवन मे विरासत म प्राप्त सास्कृतिक धरोहर और स्व-अर्जित नग्न यथाथ का अदभुत द्व द्व मूत हुआ था। उनम व सभी दुबल-ताए थी जो प्राय साधारण मनुष्य म होती है। इस ममभेदी नग्न यथाथ न उ हे जा अ तदष्टि दी थी, वह यथाथ की ऊपरी परत का भेद कर सत्य को देखन क लिए सदा प्रयत्नशील रहती थी इसीलिए सहना जानती थी। भट्ट जी भी सहत थे। उग्र होकर प्रत्याक्रमण नही करत थे। कभी-कभी सोचता हू, काश उनमे यह प्रत्याक्रमण करन का साहस होता तब सम्भवत उनके साहित्यिक का स्वर अधिक प्रखर और मुखर हो पाता।

लेकिन उनक भीतर का एकाकी मानव समझौता करन को तयार नही था।

## डा० कृष्णदेव प्रसाद गौड 'बेढब'

यह सयोग की ही बात है कि काशी के मास्टर म मेरा प्रत्यक्ष परिचय पहली बार आकाशवाणी के दिल्ली केन्द्र पर हुआ था और अतिम बार भी उनस मेरी भेट आकाशवाणी के ही एक क द्र इलाहाबाद म हुई। दोना बार वे एक कवि सम्मेलन मे भाग लेन आए थ। पहली बार दिल्ली केन्द्र के स्टूडियो न० १ म सुशिक्षित जनसमूह क बीच बठकर मैंने उनकी वह कविता सुनी थी जिसके कारण वे काफी लोकप्रिय हुए। जब कभी मैं अपन सिर पर हाथ फरता हू और पाता हू कि वहा का उपजाऊ प्रदश धीरे धीर ऊसर मे परिवर्तित होता जा रहा है या किसी अ य सज्जन की चमकती हुई चाद देखता हू तो मुझे सहसा बेढब जी की गजी खोपडी की वे पक्तिया याद आ जाती हैं—

> इस तरह है यह चमकती खोपडी
> देख सकत आप अपना रूप है
> चाद पर है चादनी मानो पडी
> आइना इसको लग हैं मानन
> है बनाया हाथ स भगवान न
> हाथ अपन आप जाता है उधर
> बठ जाता हाथ तब तत्काल है
> जिस तरह सम पर ध्रुपद की ताल है।

उस दिन जितना हँसा था, उतना हँसन का अवसर शायद ही कभी मिला हो। उस सभा म सौंदय, फसन प्रभुता औ र प्रतिभा सभी का

प्रचुर रूप म प्रतिनिधित्व हुआ था। वे सभी ठहाका लगाने म एक दूसरे न होड ले रह थे। सबकी दष्टि अपन आस पास चमकती हुई चाद को खोज रही थी और मास्टर साहब समरस हो शात मद स्वर मे गजी खोपडी पढते चले जा रह थे।

भारतीय और पाश्चात्य सभी हास्यकारा न गजी खोपडी को हास्य का आलबन बनाया है, लेकिन इतनी शिष्ट और सारगभ भाषा का प्रयोग बहुत ही कम व्यक्ति कर पाए। जीवन मे हास्य का उतना ही महत्त्वपूण स्थान है जितना काम और अथ का। जो व्यक्ति हस नही सकता वह सुखी नही रह सकता। हास्य मात्र ऊजा ही नही है, वह एक जीवन पद्धति भी है। विवेक क अभाव म वह निरथक ही नही भयानक भी प्रमाणित हो सकती है। ससार के सभी महापुरुषा न इसकी शक्ति और उपयोगिता का स्वीकार किया है। महात्मा गाधी न कहा था—'यदि मुझम विनोद-वत्ति न होती तो मैं कभी मर गया होता।

दुर्भाग्य स हमन हास्य विनोद के महत्त्व को सही रूप म कभी नही आका। महज रूप म स्वीकार कर लिया कि हास्य की सृष्टि करना अत्यन्त सरल है। कुछ भौंडी उक्तिया कुछ अश्लील उपमान, [illegible] और प्रतिभा का कुछ साहसिक प्रदशन करना [illegible] बस हास्य विनाद का यही नुस्खा हमार साहित्य म [illegible] है। लेकिन निमल हास्य क लिये सचमुच निमल, [illegible] की आवश्यकता होती है और धाराप्रवाह भाषा [illegible] का अनुसरण करती है। बढब जी जैसे हास्य [illegible] कठिन है जितना दशनशास्त्र की गुत्थिया [illegible] सिद्धाता का प्रतिपादन करना।

कितन एसे व्यक्ति है जो अपनी [illegible] रहते ह और श्रोतागण अट्टहास [illegible] साहब हास्य की सष्टि बेडर बनाते [illegible] उन्ह अपनी रचनाए पढत देखा, [illegible] व कभी ठहाका लगाते थे या नहीं, [illegible] उनका आखो म शरारत भरी [illegible]

यह गभीर मुद्रा और शरारत भरी मुस्कान ! हास्य रस का इससे बडा आलबन और क्या होता होगा ?

मास्टर साहब शिक्षाविद भी थे। डी० ए० वी० कालेज बनारस के प्रिंसिपल पद से उन्होंने अवकाश ग्रहण किया था। अपने जीवनकाल में सहस्रों विद्यार्थियों की उन्होंने ज्ञान की प्यास बुझाई। वे यदि गभीर और परिष्कृत हास्य-व्यग्य न लिखते तो और कौन लिखता ? इसलिये कभी-कभी ऐसा होता था कि जब वे अपनी पूरी बात कह लेते, उसके बाद ही श्रोताओं को हँसी आती थी। उनकी कहानियाँ और निबध पढ़कर सहसा हँसने का मन नहीं करता, लेकिन जैसे ही शब्द मन के भीतर उतरते हैं तो उत्फुल्लता उमड पडती है। यह उनकी दुर्बलता हो सकती है, लेकिन अशिष्टता किसी भी तरह नहीं। बहुत दिन पहले उनका एक लेख पढा था, जिसमें उन्होंने आज से लगभग सौ वर्ष बाद के ससार की एक झाकी दी थी। उसमें उन्होंने उस युग में प्रचलित कुछ परिभाषाए दी थी। उदाहरण के लिए ईश्वर की परिभाषा देखिए—एक खिलौना जब मनुष्य अर्धसभ्य था तब इससे खेला करता था। इसकी विशेषता यह थी कि जो मनुष्य जब चाहे इसका रूप अपनी मौज के अनुसार बना सकता था। उन्होंने शराब की परिभाषा इस प्रकार की है—एक पेय, जो लाखों वर्षों से इसका प्रयोग होता चला आया है किन्तु जब से वैज्ञानिक युग शुरू हुआ है यह प्रमाणित हो गया है कि इससे मस्तिष्क को बडा लाभ पहुचता है। विधान द्वारा सरकारी कर्मचारी और साहित्यकार के लिये यह अनिवार्य कर दी गई है।

इन शब्दों में अपने आपमें कोई ऐसी विशेषता नहीं है कि सहसा हँसी फूट पडे लेकिन जैसे ही इनका अर्थ अपनी ध्वनि बिखेरता है तो इनका शिष्ट व्यग्य मन को कचोट देता है। शिक्षाशास्त्री होने के नाते उन्होंने जिस मर्यादा को स्वीकार किया था उसने जहा उनकी रचनाओं को गरिमा प्रदान की वहा उनकी जनसुलभ लोकप्रियता पर कुछ अकुश भी लगाए।

अपने व्यक्तिगत जीवन में वह बहुत ही सहृदय और सौम्य स्वभाव के व्यक्ति थे। उनके मित्रों की सख्या सीमित नहीं थी। उनके कार्य क्षेत्र भी अनेक थे। शिक्षा, साहित्य पत्रकारिता संस्थाओं का सगठन

सभी क्षेत्रों में वे आए और लोकप्रिय हुए। अनेक पत्रों में हास्य व्यंग्य के कालम लिखे। अनेक पत्रों का उन्होंने संपादन किया। प्रधानतः वे कवि थे लेकिन आलोचना के क्षेत्र में भी उन्होंने ठोस काम किया है। 'आधुनिक खड़ी बोली का इतिहास' इस बात का साक्षी है। वह उस युग के व्यक्ति थे जब साहित्य में सम्राटों का बोलबाला था। प्रेमचन्द (उपन्यास) प्रसाद (कवि) रामचन्द्र शुक्ल (आलोचना) ये तीनों सम्राट काशी में रहते थे। तब काशी निवासी बेढब जी को हास्य व्यंग्य का चौथा सम्राट क्यों नहीं माना जा सकता? शिष्ट हास्य की अनेक अमूल्य कृतियां उन्होंने दी हैं। कविता, कहानी, निबंध सभी विधाओं पर उनका समान अधिकार था। जीवन के अंतिम क्षण तक उनकी प्रतिभा का स्रोत मंद नहीं पड़ा।

उनका पूरा नाम कृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढब' बनारसी था। गौर-वर्ण, सौम्य सुंदर मुखाकृति, सरल, मधुर स्वभाव, धीरे-धीरे निकलने वाले व्यंग्य विनोद से ओत-प्रोत शब्द जो सुनता पुलकित प्रभावित हो उठता। अपने यौवन में वे निस्संदेह आकर्षण का केंद्रबिंदु रहे होंगे। मुझे उनका आतिथेय और अतिथि दोनों ही बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। प्रत्येक बार ऐसा लगा कि मैं अत्यंत सात्विक और आत्मीयतापूर्ण वातावरण में रह रहा हूं। वे जितना धीमे बोलते थे उतना ही धीमे से हंसते भी थे। अंतिम बार अचानक ही जब आकाशवाणी के इलाहाबाद केंद्र में मिलना हुआ तो पाया जैसे वे कुछ थके-थके से हैं। बेधड़क जी भी साथ थे। उन्होंने मेरा परिचय कराने की दृष्टि से जैसे ही कहा 'मास्टर साहब जी ये विष्णु प्रभाकर...' वे तुरंत बोल उठे—'अरे तुम इनका परिचय कराओगे। मैं तो इनके घर भोजन कर आया हूं।'

और यह कहते हुए उनकी आंखों में वही सहज मुस्कान चमक उठी। बड़े स्नेह से देर तक बातें करते रहे। मैंने कहा—'आपका स्वास्थ्य कैसा है? कुछ थके-थके से दिखाई दे रहे हैं।'

बोले—'ठीक है, नजदीक पहुंच रहे हैं। तुम तो जानते ही हो।' मैंने कहा—'अभी आपको ऐसी बात नहीं सोचनी चाहिए।'

वे मुस्करा उठे। उस क्षण मैं इस बात की कल्पना नहीं कर सकता था कि अगले हफ्ते दिल्ली लौटकर मुझे वह समाचार सुनना पड़ेगा

अवश्यभावी होकर भी मन को पीडा से भर देता है। मेरी उनकी इतनी घनिष्ठता नही थी जिसे पारिवारिकता की सज्ञा दी जा सके, लेकिन इस अल्पपरिचय के परिणामस्वरूप भी मेरे मन मे उनके प्रति एसा स्नेहभाव पदा हो गया था जो जोडता है तोडता नही।

उनके सबध मे वस्तुत कुछ वर्षों स सुनता और पढता आया हू। उन्होने नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी साहित्य सम्मेलन दोनो ही सस्थाओं म बहुत काम किया है। हिन्दी के प्रति उनकी ममता अगाध थी लेकिन उनका प्रचार स्वर मदाधता स दूर रहा है। किसी दलविशेष के साथ उनका सबध आधुनिक राजनीति के स्तर तक पहुच गया हो, एसा कभी नही सुना। यो काशी वालो का अपना दल होता ही है, लेकिन वहा भी उनका सबन्ध परिष्कार की ओर ही अधिक रहा होगा। सुनता हू, उन्हे क्रोध भी आता था। उस समय उनके स्नेह के आतक से पूर्ण अहिंसक आकृति कसी लगती होगी ?

वे द्विवदीकालिक हास्य को परिष्कृत करके वतमान युग म ले आए थे। इतिहास इसके लिये उनका कृतज्ञ रहेगा। काशी विद्वत्ता और प्रतिभा की नगरी है। विश्वप्रसिद्ध दाशनिक और सत वहा हुए हैं। कबीर और भारतेंदु जैसे युगप्रवतक अक्खड और मस्त जीव भी वही हुए है। दानो ही देवत्व और मानवीयता स ओत प्रोत थ। बेढबजी पर इन सबका प्रभाव था। तुलसी का परिष्कार, कबीर और भारतेंदु की अल्हड मस्ती इसी उज्ज्वल परपरा की वे मधुर कडी थे। लेकिन आज तो परपरा म किसी का विश्वास नही रह गया है इसलिये उनका स्थान कौन लेगा या किसने लिया है इसपर चर्चा करना व्यथ है। यही कहा जा सकता है कि वे अपनी परपरा आप थे। वे अपने पूवजो के ही उत्तराधिकारी नहीं थ, अपने उत्तराधिकारी भी थे।

# प० बनारसीदास चतुर्वेदी

अनुराग से पूर्व की एक स्थिति होती है, उसे कहते हैं पूर्व राग। यही तो वह स्थिति है जहा परिचय सुलभ होता है। न जाने क्यो मुझे अनुराग से पूर्व राग कही अधिक प्रिय है। अनुराग की स्थिति मे पहुचते न पहुचते तो व्यक्ति आलोचक हो रहता है। राग पीछे छूट जाता है।

चतुर्वेदी जी के प्रति मैं अपने उसी पूर्व राग की चर्चा करना पसन्द करूगा। लेकिन चक्षु राग से पूर्व भी एक राग होता है उसे आज के सदर्भ मे कहूगा कीर्ति राग। 'विशाल भारत' के ख्यातिनामा सपादक पण्डित बनारसीदास जी चतुर्वेदी की कीर्तिगाथा से मेरे जैसे नवलेखक का आतकित हो उठना स्वाभाविक ही था। साहित्य के समरागण मे न जाने कौन-कौन से दिग्गजो को उन्होने पछाड़ा था न जाने कितने आन्दोलन उन्होने चलाए थे। मैं स्वीकार करूगा कि यह प्रवृत्ति मुझे रुचिकर नही थी, फिर भी 'विशाल भारत' मेरी प्रिय पत्रिका थी और उसके सपादक के प्रति स्नेह और आदर का भाव मेरे मन मे था। इसके अतिरिक्त एक भी मुझ तक पहुच चुकी थी कि चतुर्वेदी जी वर्तमान भारत की दो विभूतियो महात्मा गाधी और कवि ठाकुर—के पण्डा भी हैं। तब मैं आतकित न होता तो क्या होता?

तब तक मैं स्वय भी लिखने की चेष्टा करने लगा था। आर्यसमाजी तो था ही और चतुर्वेदी जी के पण्डित नाथूराम शर्मा शकर तथा पण्डित पद्मसिंह शर्मा आदि मेरे प्रिय लेखको के प्रशसक। सभवत इसी बात प्रोत्साहित होकर मैंने एक रचना 'विशाल भारत' के सपादक को

थी। आशा भी की थी कि रचना छपगी, लेकिन हुआ यह कि कुछ दिन वाद वह वैसी-की वैसी ही लौट आयी। याद नहा आता कि सपादक का खेद भी पा सका था या नही। लेकिन क्रोध तो निश्चय ही आया था।

आज उस धुध के पार देखने की आवश्यकता नही है लेकिन इतना जरूर निश्चित है कि तब यह बात मरे मन म किसी भी तरह नही आयी होगी कि एक दिन उन्ही आदरणीय सपादकजी क इतना निकट जान का अवसर मिलेगा जिन्हाने मेरी रचना लौटा दी थी।

4 जनवरी, 1941 का दिन था। जोन टिक्ट लकर घूमत घूमत मैंने पाया कि ओरछा राज्य की राजधानी टीकमगढ जा पहुचा हू। चतुर्वेदी जी उन दिना वही रहकर 'मधुकर' पाक्षिक का सपादन कर रहे थे और उनके सहयोगी थे श्री यशपाल जन। वस्तुत इस यात्रा का उद्देश्य यशपाल जी के पास जाना ही था। यदि यशपाल न हात ता मैं चतुर्वेदी जी के पास जान का साहस न कर पाता।

अब मैं उन दिना का वणन करू

4 जनवरी 1941 बादल थे पर सर्दी नही थी। ललितपुर स सवर दस बजे बस द्वारा टीकमगढ के लिए रवाना हो गया। धरती पथरीली है पर वक्षो का अभाव नही है। माग म दो नदिया भी मिली। आस पास क दश्य सुन्दर लग। (वन मुझे सदा आकर्षित करत हैं।)

यशपाल नगर से बाहर र त है। तब यह मालूम नहा था। सीध टीकमगढ पहुच गय। उस नगर कहना नगर का अपमान करना है। नितान्त गन्दा गावडा जैसा ही था। हा, बाहर के दश्य सुन्दर थे। ताल क किनार शायद राजमहल है। नगर म पहुचकर गलती मालूम हुई लेकिन चतुर्वेदी जी का नाम सुनकर बस वाला हम वापिस लान के लिए तयार हो गया। उनक नाम क कारण पुलिस वाला न भी अधिक जाच पडताल नहा की। (उन दिना प्रत्यक देसी रियासत म पुलिस प्रत्यक आन जान वाल का अता पता रखती थी। हम जैस खद्दरधारिया पर ता विशेष कृपा थी।)

कुण्डेश्वर सुन्दर स्थान है। नदी किनार भवन, प्राकृतिक दृश्या स घिरा, नाना प्रकार के पेड पौधे, वन म बन्दर हैं ता चीतल भी हैं। याद

करते ही दूर वन में चौसिंग दिखाई दिए। उन स्वर्णमृगों को देखकर बहुत अच्छा लगा। बताया कि तेंदुआ आदि अन्य पशु भी हैं। वहां यह मनोरम प्रकृति और यहां यह धन्य गाजरा जहां मक्खियां ही प्रमुख थीं।

याद है कि आते ही चतुर्वेदी जी से भेंट नहीं हुई थी। शायद वे सो रहे थे। कुछ देर बाद उठते ही उन्होंने यशपाल जी को पुकारा। पहली बार उनका स्वर सुना। उसमें आत्मीयता का स्नेह था। अहं का दर्प नहीं। यह भी अच्छा लगा।

भेंट होने पर पाया कि वे बड़े सज्जन और हँसमुख हैं। बहुत बातें हुई।

सन्ध्या को घूमने निकल पड़े। हाथ में डण्डा लिए चतुर्वेदी जी बड़ी फुर्ती से चल रहे थे। गांधी टोपी पाजामा लम्बी कमीज और छोटे खाकी कोट में वे सचमुच घुमक्कड़ से लगते हैं। पेट के रोगी होने पर भी सदा प्रसन्न सदा जवान। (पेट के रोगी प्रायः चिड़चिड़े हो जाते हैं।)

नदी किनारे पत्थरों पर बैठ प्रकृति की छटा निहारते रहे। वृक्षों के बीच में से होकर नदी का घुमाव मन को बहुत भाता है। वैसे भी नदी किनारे बैठना मुझे अच्छा लगता है। सर्जक और योगी दोनों के लिए ही आदर्श स्थान है।

बातों की कोई सीमा न थी। एक विषय से सहसा ही दूसरे किसी अप्रासंगिक विषय पर हम कूद जाते कि अचरज हो आता। नविलसन में जोखिम लेने की प्रवृत्ति थी इसकी चर्चा करते-करते चतुर्वेदी जी बोले, सत्यनारायण कविरत्न में भी यह प्रवृत्ति रही। अब पण्डित श्रीराम शर्मा में भी है।'

यहां से न जाने कैसे गायों की चर्चा चल पड़ी। शायद मेरे कारण। मैं उन दिनों हिसार की सरकारी गऊशाला में काम करता था। प्रसिद्ध नसलों की बात उठी कि चतुर्वेदी जी ने बताया, "बुन्देलखण्ड की गायें तो आधा पाव दूध ही देती हैं।' मैंने कहा "जी मध्यप्रदेश की गायें तो दूध देती ही नहीं। वे गोबर देने के लिए प्रसिद्ध हैं।'

शायद हँसी का ठहाका लगा होगा लेकिन उस समय हँसने का बड़ा कारण बने डा० धीनेत। श्री कृष्णानन्द गुप्त की तारा भी।

थी। आशा भी की थी कि रचना छपेगी, लेकिन हुआ यह कि कुछ दिन बाद वह वैसी की वैसी ही लौट आयी। याद नहीं आता कि संपादक का खेद' भी पा सका था या नहीं। लेकिन क्रोध तो निश्चय ही आया था।

आज उस धुंध के पार देखने की आवश्यकता नहीं है लेकिन इतना जरूर निश्चित है कि तब यह बात मेरे मन में किसी भी तरह नहीं आयी होगी कि एक दिन उन्हीं आदरणीय संपादकजी के इतना निकट जाने का अवसर मिलेगा जिन्होंने मेरी रचना लौटा दी थी।

4 जनवरी, 1941 का दिन था। ज़ोन टिकट लेकर घूमते घूमते मैंने पाया कि ओरछा राज्य की राजधानी टीकमगढ़ जा पहुंचा हूं। चतुर्वेदी जी उन दिनों वहीं रहकर 'मधुकर' पाक्षिक का संपादन कर रहे थे और उनके सहयोगी थे श्री यशपाल जैन। वस्तुतः इस यात्रा का उद्देश्य यशपाल जी के पास जाना ही था। यदि यशपाल न होते तो मैं चतुर्वेदी जी के पास जाने का साहस न कर पाता।

अब मैं उन दिनों का वर्णन करूं

4 जनवरी 1941 बादल थे पर सर्दी नहीं थी। ललितपुर से सवेरे दस बजे बस द्वारा टीकमगढ़ के लिए रवाना हो गया। धरती पथरीली है पर वृक्षों का अभाव नहीं है। मार्ग में दो नदियां भी मिलीं। आस पास के दृश्य सुन्दर लगे। (वन मुझे सदा आकर्षित करते हैं।)

यशपाल नगर से बाहर रहते हैं। तब यह मालूम नहीं था। सीधे टीकमगढ़ पहुंच गये। उसे नगर कहना नगर का अपमान करना है। नितान्त गन्दा गांवड़ा जैसा ही था। हां, बाहर के दृश्य सुन्दर थे। ताल के किनारे शायद राजमहल है। नगर में पहुंचकर गलती मालूम हुई लेकिन चतुर्वेदी जी का नाम सुनकर बस वाला हमें वापिस लाने के लिए तैयार हो गया। उनके नाम के कारण पुलिस वालों ने भी अधिक जांच पड़ताल नहीं की। (उन दिनों प्रायः वैसी रियासतें में पुलिस प्रत्येक आने जाने वाले का अता पता रखती थी। हम जैसे खद्दरधारियों पर तो विशेष कृपा थी।)

कुण्डेश्वर सुन्दर स्थान है। नदी किनारे भवन, प्राकृतिक दृश्यों से घिरा नाना प्रकार के पेड़ पौधे वन में बन्दर हैं तो चीतल भी हैं। याद

करत ही दूर बन म चीतल दिखाइ दिए। उन स्वणमृगों का देखकर बहुत अच्छा लगा। बताया कि तेंदुआ आदि अन्य पशु भी है। कहा यह मनोरम प्रकृति और कहा वह गदा गावटा जहा मक्खिया ही प्रमुख थी।

याद है कि जाते ही चतुर्वेदी जी स भेंट नही हुई थी। शायद वे सो रह थे। कुछ देर बाद उठे ता उ होने यशपाल जी को पुकारा। पहली बार उनका स्वर सुना। उसम आत्मीयता का स्नेह था। अह का दप नही। यह भी अच्छा लगा।

भेंट होने पर पाया कि वे बडे सज्जन और हँसमुख है। बहुत बातें हुइ।

स ध्या को घूमन निकल पडे। हाथ म डण्डा लिए चतुर्वेदी जी बडी फुर्ती म चल रहे थे। गाधी टोपी पाजामा, लम्बी कमीज और छोट खाकी कोट म वे सचमुच घुमक्कड से लगन हैं। पेट के रोगी होने पर भी सदा प्रसन्न, सदा जवान। (पट के रोगी प्राय चिडचिडे हो जाते हे।)

नदी किनारे पत्थरा पर बैठे प्रकृति की छठा निहारत रहे। वक्षो के बीच म से हाकर नदी का घुमाव मन को बहुत भाता है। वैस भी नदी किनारे बैठना मुझे अच्छा लगता है। सजक और योगी दोनो क लिए ही आदश स्थान है।

बाता की कोई सीमा न थी। एक विषय स सहसा ही दूसर किसी अप्रासगिक विषय पर एमे कूद जाते कि अचरज हो आता। 'नविलसन म जोखिम लेन की प्रवति थी इसकी चर्चा करत करन चतुर्वेदी जी बोले, 'सत्यनारायण कविर न म भी यह प्रवत्ति रही। अब पण्डित श्रीराम शर्मा म भी है।

यहा स न जाने कमे गायो की चर्चा च न पडी। शायद मेरे कारण। मैं उन दिना हिसार की सरकारी गऊशाला मे काम करता था। प्रसिद्ध नसला की बात उठी कि चतुर्वेदी जी ने बताया बुन्देलखण्ड की गायें ता आधा पाव दूध ही देती हैं।" मैंने कहा 'जी ऋषिकेश की गायें तो दूध देती ही नही। वे गोबर देने के लिए प्रसिद्ध है।

शायद हँसी का ठहाका लगा होगा, लेकिन उस समय हँसने का सबस बडा कारण बने डा० श्रीनेत। श्री कृष्णान द गुप्त को तारो की कितनी

पहचान है, इस बात से भी काफी मनोरंजन हुआ। हिंदी लेखकों और घुमक्कड दल की चर्चा करते करते ओरछा नरेश और उनके एक अधिकारी श्री रमाशंकर शुक्ल का जिक्र आ गया। फिर महापुरुषों को बनाने वाली क्षणिक घटनाओं का वर्णन करने लगे। बुद्ध, नानक, रामदास, दयानन्द सभी के जीवन में ऐसी घटनाएं घटित हुई हैं। 'थोरो' गीता से कितने प्रभावित थे। (थोरो चतुर्वेदी जी को बहुत प्रिय है।)

हिंदी में अच्छे पत्रकार नहीं हैं, इसके लिए खेद प्रगट करते हुए उन्होंने नये लेखकों को सलाह दी कि वे अधिक न लिख कर किसी एक पत्र में सुंदर रचना प्रकाशित करवाएं।

अंधकार घिर आया था। मार्ग ढूंढना पडा लेकिन बातों का क्रम फिर भी नहीं टूटा। चतुर्वेदी जी की लाइब्रेरी सुंदर है। सवश्री एन्ड्रयूज, पद्मसिंह शर्मा और श्रीधर पाठक आदि गण्यमान्य व्यक्तियों की जीवनियां लिखने का काफी मसाला है। महापुरुषों और प्रियजनों के पत्रों का संग्रह तो अद्भुत है। भारत भर में इतना सुन्दर और इतना विशाल संग्रह तो कहीं भी न होगा।

रात्रि के भोजन पर भी खूब हँसे। टंडला विश्वविद्यालय और डा० श्रीनेत गम्भीर होने ही नहीं देते थे।

तो पहला दिन इस प्रकार बीता। क्या प्रभाव पडा? इसकी चर्चा फिर कभी। आज तो मन मुग्ध है, चित्त गदगद है। यद्यपि यशपाल जी के एक मित्र के रूप में ही उन्होंने मुझे लिया, लेकिन फिर भी मैं तो था नितान्त अपरिचित ही। एक अपरिचित के प्रति इतनी सहज उन्मुक्तता गद्गद ही कर सकती है।

5 जनवरी 1941। सवेरे की चाय पर प्रवचन जारी रहा। यूं चाय के साथ लड्डू भी थे लेकिन मन बातों में ही रमा था। चतुर्वेदी जी बोले, नये लेखक को प्रोत्साहन देना चाहिए, परन्तु अधिक प्रशंसा नहीं करनी चाहिए। फिर बीच में ही डा० श्रीनेत का पत्र निकाल लाए और सुनाने लगे। सन 1931 का पत्र है। बडी विचित्र इंगलिश में लिखा है। हर संज्ञा के साथ एक अदभुत विशेषण जुडा था। हँसी के मारे लोटपोट हो गए। और भी पत्र सुने। पत्रों का सचमुच अदभुत संग्रह है। किसी

दिन उनका प्रकाशन हो सका तो पत्र साहित्य की निधि प्रमाणित होगे। पत्र पढत पढत पत्र लिखन की कला पर भी बहुत बातें हुईं। पण्डित पद्मसिंह शर्मा, श्रीयुत श्रीनिवास शास्त्री और महात्मा गाधी आदि कुछ ऐमे व्यक्ति है जो सचमुच पत्र लिखना जानते है।

भवन के पास ही जामडेर नदी पर कुण्डेश्वर का प्रपात है वही स्नान किया। भोजन के बाद बाग मे गए। बहुत बडा बाग है। अमरूदो के बहुत ही पेड ह। फल भी सुन्दर है। बनारसी बाग मे मीठे नीबुओ की बहुतायत है। देखा उनके नीचे फल पडे सड रहे है। नीबुओ के पेड भी थे। उनके नीचे अमरूद जितने बडे बडे नीबू ढेरो पडे थे। कोई उठान वाला ही नही था। बडा तरस आया। इतने गुणकारी फल और उनका इतना अपमान। पता लगा कोई इनको छू नही सकता। छून पर कडी सजा मिलती ह। बेशक वे सड जाए। और सचमुच वे सडते रहत हैं। एक तरफ देश म भुखमरी दूसरी ओर सामन्तशाही मे य बरबादी।

मीठे नीबू लेकर लौट। चतुर्वेदी जी और यशपाल जी को इस बात का बहुत दु ख हुआ कि उन्होने अभी तक मीठे नीबू क्या नहीं खाए। सच तो यह है यहा के लोगो की अक्ल पर पत्थर पडे ह। व महुआ और कौन्दो खाते ह और फलो को सडन देते है।

सन्ध्या को फिर वन भ्रमण का कार्यक्रम रहा। चारो घूमन के लिए निकल पडे। मेरा छोटा भाई मेरे साथ था। जमनेर और जमडार के सगम पर पहुच। दो नदियो का सगम मन को सदा तरगित करता है। घूम घूमकर घाट देखे। वन के नयनाभिराम दृश्य देखे। क्या बताए क्या देखा और क्या न देखा। बातो का और हसी का क्रम कहीं नहीं टूटा। कितन सुखदायी हैं जीवन के ये क्षण।

घर लौटकर फिर प्रवचन का क्रम चला। अनक साहित्यिक व्यक्तियो की चर्चा हुई। खूब हसे। मैंने कहा, 'हम कल बाजार म पहुच गए थे। बडी गन्दगी थी। मक्खिया ही मक्खिया। एक एक रसगुल्ले पर नौ-नौ दस दस मक्खिया बैठी थी।'

तो चतुर्वेदी जी तुरन्त बोले, 'यह तो बडा अन्याय है। मैं आज ही

महाराज स शिकायत करूगा। हमारा आदेश था हर रसगुल्ले पर बारह मक्खियां बठें। तीन कम क्या थी ?"

इसी तरह हँसत हँसते लोट पोट होते रहे। हँसन की यह प्रवृत्ति चतुर्वेदी जी म आज तक अक्षुण्ण है। मिलने पर खूब हँसाते ह। पत्रो के द्वारा भी खूब हसात ह और उसके लिए कर भी वसूल करत है।

उस दिन वे मेरे घर पधारे थे। कमरे म रहीम का एक दोहा लगा था—

रहिमन पानी राखिये,
बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरै,
मोती मानस चून॥

तुरत बाल रहीम आज होते तो इसे यू लिखत—

रहिमन पानी राखिय,
भलीभाति उबलाय।
बिन उबले कसे बनै
ठकुरसुहाती चाय॥'

दूसरा दिन भी बीत गया। क्या य दिन अमर नही हो सकत ? लेकिन मैं तीसर दिन की चचा करू।

6 जनवरी, 1941 । आज कुहरा पड रहा था। हवा भी थी। बन स लाट कर चतुर्वेदी जी के पास जा बठे। बस लगभग 10 बजे तक प्रवचन ही होता रहा। आरम्भ हुआ था थोरो के एक वाक्य स किसी स प्रेम करो और फिर रिपोट करो।' यहा से आरम्भ होकर बात साधना और तप तक जा पहुची। कई व्यक्तियो का जिक्र आया, लकिन श्री महावीरप्रसाद द्विवदी जी के जीवन का वणन चतुर्वेदी जी न जैसे मार्मिक रग स किया वसा शायद किसी और का नही कर सके। उनकी दान शीलता काम करन की क्षमता, सादगी, स्पष्टवादिता और पुरान शील की बात गुप्ताग का कटवा दना, किसी के घर जान पर खाली हाथ न जान की रीति—कोई अन्त नही था उनके गुणो का।

स्वामी रामतीथ का जीवन के अन्त म सस्कृत सीखन का माह हो

आया था। माइके जेलो विश्वप्रसिद्ध मूर्तिकार हुआ है। उसने एक मूर्ति बनाई थी। किसी ने उसे देखा और कहा, "यह नगी है और अश्लील है।'

मूर्तिकार ने उत्तर दिया, पहले अपनी आखो की अश्लीलता दूर करो।'

इस तरह की न जाने कितनी बातें वे कहते रहे। आज जाने का कार्यक्रम था लेकिन उन्होने कहा, "आज नही कल जाना। शायद जैनेन्द्र जी भी आने वाले है।'

जाना स्थगित कर दिया परन्तु जैनेन्द्र जी नही आए। भोजन, आराम, बाग मे जाकर फल बटोरना और फिर घूमना। आज यशपाल द्वीप देखने गए। यहा का वन प्रान्त भयानक है। डर लगता है। लौटकर पता लगा कि पास मे ही तेंदुआ आ गया है। कल एक बछडे को उठा ले गया था। आज इसी प्रसग को लेकर हँसी मजाक होता रहा। लेकिन कल तो चले जाना है।

7 जनवरी 1941 । कल तेंदुए की चर्चा हुई थी। वह बछडे को उठा ले गया था। हम लोगो ने निश्चय किया कि उसके स्थान का पता लगाया जाए। बस लौट और लाठिया उठाकर चल पडे। बहुत दूर तक बातें करते हुए वन के भीतर घुसते चले गए। मिला कुछ नहीं। दिन मे कहीं तेंदुआ मिलता है? जहा ले जाकर उसने बछडे को खाया था वह स्थान हम अवश्य ढूढ सके। उस वन प्रान्त मे अकेले जाते हुए डर न लगा हो सो बात नही। पर इस दुस्साहस ने मन को आनन्द मिला। उस बार तेंदुआ नही देख सके, लेकिन लगभग आठ वर्ष बाद जब मै दूसरी बार टीकमगढ गया तो एक सन्ध्या को इसी प्रकार भ्रमण करते हुए जगली सूअर के दर्शन अवश्य किए। अधकार घिर आया था। हम लोग सडक के किनारे किनारे चले जा रहे थे। उस ओर से बैलगाडी आ रही थी कि सहसा हमारी बाइ ओर से वन के भीतर से एक पशु तीर की तरह सीधा उछला और दाहिनी ओर के वन मे गायब हो गया। हम उस समय चौंके जब गाडी वाले ने चिल्लाकर कहा, जगली सूअर, जगली सूअर।'

सहसा डर भी लगा और खुशी भी हुई कि जंगली सूअर आया और चला गया। हम लोग सही सलामत बच रहे। चतुर्वेदी जी में जोखिम उठाकर घूमने की यह प्रवृत्ति सदा रही है। शायद यही उनको सदा मन से युवक बनाए रखती है।

आज दोपहर बाद जाना था। हँसने का क्रम पूर्ववत चलता रहा लेकिन चतुर्वेदी जी साथ ही साथ हमारे लिए चिट्ठियाँ लिखते रहे अखबार और लीफलेट इकट्ठे करते रहे और इस प्रकार चार दिन का वह कुण्डेश्वर प्रवास पूरा हो गया।

पूर्व राग के इन क्षणों में क्या पाया, यह आज अट्ठाईस उनतीस वर्ष बाद ही ठीक प्रकार से नहीं बता सकूँगा। इन वर्षों में और भी पास आने के अवसर मिले। पास आने पर ऐसा कुछ भी दिखाई देता है जो देखने का मन नहीं करता। मतभेद भी होते हैं, लेकिन जब-जब भी दृष्टि उठा कर उस भूतकाल में झाँकता हूँ तो मन को गद्गद ही पाता हूँ। घर लौट कर उनको एक पत्र लिखा था। उसके उत्तर में उन्होंने जो कुछ लिखा उसी की चर्चा करके पूर्व राग की इस कहानी को समाप्त करूँगा। 16 जनवरी 1941 का वह पत्र मेरे नाम चतुर्वेदी जी का पहला पत्र है। पत्र अंग्रेजी में है। उन्होंने लिखा—

'तुम अद्भुत व्यक्ति हो। मुझ में एक साथ प्रेम सहानुभूति और सद्भावना कैसे पा सके? पहला गुण तो मुझ में जरा भी नहीं है। दूसरे को मैं मात्र तरल भावुकता समझता हूँ, और तीसरा गुण है केवल शिष्टाचार। जो मैं अब तक नहीं पा सका लेकिन पाना चाहता हूँ, वह है विनम्रता। जो हममें सबसे साधारण है उसके व्यक्तित्व के प्रति आदर और उसके साथ ही दूसरों के दोषों के प्रति उदारता।'

'प्रत्येक अतिथि वरदान स्वरूप है वरदानों का दाता। इसलिए तुम्हारे आगमन से मुझे प्रसन्नता ही हुई। राज्य के ज्योतिषि के अनुसार मुझे अभी 27 वर्ष और जीना है। इसलिए 54 बार मैं तुम्हारा आतिथ्य कर ही सकता हूँ। जब मन करे अवश्य आओ। तुम्हारा ऐसा ही स्वागत होगा।

"छाटे भाई को मेरा आशीवाद। जिनसे इस यात्रा मे मिले हो उनसे सबध बनाए रखो।

"चीत (तेंदुए) के बारे म फिर कुछ नही सुना। हम लोग दूर तक साम्य भ्रमण के लिए जाते हैं। और स्वास्थ्य हमारा अच्छा है।

"अपनी साहित्यिक गतिविधियो के बारे म सूचना देते रहो। और बताआ कि क्या मैं तुम्हारी कुछ सहायता कर सक्ता हू? ज्येष्ठ होने के कारण भी मेरा यह कत्तव्य है कि तुम्हारे जैस नवयुवक मित्रो की सहायता करू। वास्तव म मेरे नवयुवक रहने का यही रहस्य है। प्रणाम।"

इन पत्र के माथ अपन प्रिय लेखक थोरो की एक उक्ति भेजना वह नही भूल।

'मनुष्य मात्र के लिए किसी भी रूप मे यदि मनुष्य कुछ कह सक्ता या कर सक्ता है तो यही है कि वह अपन प्यार की कहानी कहता रहे, गाता रह। और अगर वह सौभाग्यशाली है और जीवित रहता है तो वह सदा प्रममय ही रहगा।

ना चतुर्वेदी जी के प्रेम की वह कहानी ही मैंने कही है। उनका आलोचक होन का दुस्साहस मैं नही कर सक्ता। यही कामना करता हू कि अपन पत्रो द्वारा व इसी अलभ्य प्रेम की वर्षा करत रहें

# पाण्डेय बचन शर्मा 'उग्र'

उस दिन चिता पर रखे हुए उनके पार्थिव शरीर को अंतिम प्रणाम किया तो सहसा विश्वास नहीं आया कि वे अब फिर नहीं बोलेंगे। ऐसा लगा कि जैसे सो रहे हों। कुछ क्षण में उठ बैठेंगे और अपनी उग्र भाषा में भाषण देना आरम्भ कर देंगे। उग्रजी का व्यक्तित्व असामान्य था। वह कभी भी भीड़ में एक बनकर नहीं रहे। उनके अंतमन में कुछ ऐसी ग्रंथियाँ थीं जो उन्हें सदा उद्वेलित और असंयत बनाए रखती थीं। यदि वह लीक पर चलते तो उग्र कैसे होते ?

उनसे मिलने से पूर्व मैं उनकी प्रतिभा का कायल हो चुका था। तब शायद विद्यार्थी ही रहा हूंगा। दिल्ली की मारवाड़ी लाइब्रेरी में 'चन्द हसीनों के खतूत' पढ़ने बैठा तो पढ़कर ही उठा। पुस्तक बहुत बड़ी नहीं है, परन्तु उसकी भाषा उसकी शैली और उसके दर्द ने मेरे किशोर मन को अभिभूत कर दिया। आज भी याद है ... दिन तक रहा था। कई व्यक्तियों से उसकी चर्चा ... ण उस मुझे याद नहीं है लेकिन विभोरता की ... अंकित है।

इस काट रही है। यह उसे झेल नहीं पा रहा। गालियां उसी नपुंसक भाव का प्रतीक हैं। आज भी मेरी यही मान्यता है। उनकी भाषा में जितना रोष आक्रोश था और वाणी में जितनी उग्रता और अभद्रता थी, अंतर में वह उतने ही दुर्बल थे। और उस दुर्बलता को छिपाने के लिए आज की चाशनी चढ़ाते रहते थे। शीशे पर चांदी चढ़ जाती है तो वह दर्पण बन जाता है। लेकिन उस दर्पण में आदमी अपने को ही देखता है। और जैसा देखना चाहता है वैसा ही देखता है। असली रूप को नहीं देख पाता।

उसके बाद उनको खूब पढ़ा। उनसे बार-बार मैं जाना, उनसे मिला। प्रशंसा और निन्दा दोनों ही उनमें पाई। लेकिन अपनी राय बदलने का अवसर नहीं पाया। हमेशा यही लगा कि इस व्यक्ति को पारखियों ने पहचानने में गलती की है। और प्रतिक्रियास्वरूप इसने अपनी उपस्थिति का अनुभव कराने के लिए इस अनगढ़ उग्रता को ओढ़ लिया है।

उनका लेकर घासलेटी साहित्य के विरुद्ध एक आंदोलन चला। तत्कालीन समाज की जो स्थिति थी और आर्यसमाज का घोर ब्रह्मचर्य वाला जो अतिसंयमी आचरण तत्कालीन प्रबुद्ध मानस का ग्रस हुए था, उसमें उग्र जैसे व्यक्तियों को कोई कैसे समझ सकता था। बड़े उग्र रूप में उन्होंने समाज पर चोट की और नग्नता को कला के झीने आवरण से ढकने का प्रयत्न नहीं किया। बहुत वर्षों बाद 'चॉकलेट' का फिर से प्रकाशन हुआ। उन कहानियों को पढ़कर मैं उस पुराने आंदोलन से सहमत नहीं हो सका। निश्चय ही वे शिल्प की दृष्टि से सुन्दर रचनाएं नहीं थीं। लेकिन उनका उद्देश्य अश्लीलता का प्रचार करना भी नहीं था। उस पुस्तक की रिव्यू करते हुए मैंने ये दोनों बातें लिखीं। न जाने उग्र जी को कैसे पता लग गया कि यह सब मैंने लिखा है। अचानक एक दिन कनाट सर्कस में उनसे भेंट हो गई। बिना किसी भूमिका के मेरी ओर बड़ी गम्भीरता से देखते हुए उन्होंने कहा 'तुमने बड़ी संतुलित आलोचना की है। ठीक ही लिखा है।'

मैं जानता हूं वह बहुत प्रसन्न नहीं थे। लेकिन इन शब्दों ने मेरी उस धारणा को और भी पुष्ट किया कि इस आदमी को किसी ने समझने का प्रयत्न नहीं किया और यह भी कि यह व्यक्ति समझे जाने की अपेक्षा

रखता है। हर व्यक्ति रखता है। लेकिन कुछ हैं कि उपेक्षा पाकर अपक्षा की चि ता नही करते और कुछ होते हैं कि उनके भीतर तीव्र प्रतिक्रिया होती है। तीव्र प्रतिक्रिया सदा ताडती है।

उग्रजी की व्यग्य करने की क्षमता और उनकी अनोखी शैली का विवेचन करन का यह अवसर नही है। मेरा ध्यान उनके व्यक्तित्व पर ही जाता है। उनकी भापा को न सह पाकर भी उनके उग्र अहम और गतिमय व्यक्तित्व न सदा मुझे प्रभावित किया। नवम्बर 1949 मे मैं मिर्जापुर गया था। उन दिना उग्रजी वहा रहते थे। अपन अग्रज के साथ मैं उनस मिलन पहुचा। 9 वष बाद मैं उनस मिल रहा था। तब का वह मिलना भी क्षणिक ही था। लेकिन वह तुरत पहचान गए और बडे स्नेह के साथ स्वागत किया। बैठन के लिए कुर्सिया उठाकर लाये। खूब ससमरण सुनाय। भोजन के लिए निमयत्रण दिया। कहा, "म तुम्हे पकवान नही खिला सकता। प्रेम के साथ ज्वार बाजरे की रोटी खानी है तो स्वागत है।"

उनका वह स्नह भरा निमनण स्वीकार करक हम खुशी हाती, लेकिन चूकि हम आगे जाना था इसलिए उस सौभाग्य मे वचित रह गए। पर बाता म बडा आनन्द आया। तत्कालीन साहित्य और साहित्य के तथा कथित नताओ को लेकर उन्हाने जो कुछ भी कहा वह रचमात्र भी अनगल नहीं था। सटीक था। मुझे एसा लगा जैस व अब कुछ गम्भीर हो गए हैं। जस बुद्धि को कुछ स्थायित्व मिल गया है। गालिया भी कम हा गई हैं। कहीं थक तो नही गए। लेकिन सिन जीवन के ससमरण सुनात हुए जब उ हाने प्रसिद्ध अभिनत्री श्रीमती दुर्गा खोट की चचा की और बताया कि उसन एक दिन मुझ मे सट पर ही एक सम्बोधन बदलन के लिए कहा। वह चाहती थी कि अमुक व्यक्ति को उससे प्रिय न कहलवाया जाए। उस समय उग्रजी अपनी चिरपरिचित आवरणहीन उग्र भापा का प्रयोग करने लग। श्रीमती दुगा खाटे और अपन लिए उन्होन मना का प्रयाग किया, न सवनाम का। विशुद्ध पुल्लिग और स्त्रीलिंग पर आ गए।

मैं तब तक आयसमाज के अतिसयमी प्रभाव स काफी मुक्त हो चुका था। लेकिन फिर भी अग्रज की उपस्थिति मे एक और अग्रज के मे इस प्रकार की भापा सुनकर मकपका गया। लेकिन उग्र यह

बोल तो उन्हें पहचान कौन ?

कई वर्ष बाद वे दिल्ली आकर रहने लगे । तब उनसे बहुधा मिलना होता था । कनाट सर्कस के बरामदों में बहुत बार उनके साथ सैर की है । मित्रों और अग्रजों के प्रति उनके आक्रोश को भद्दी भद्दी गालियों में बहते हुए देखा है । मुझे देखते ही वह छींटाकशी करने में नहीं चूकते थे । जैसे एक दिन बोले 'क्या यह छिले हुए आलू जैसा चिकना चिकना मुंह लिए हुए घूम रहे हो ।"

एक बार तो मुझ से इतने अप्रसन्न हुए कि तीव्र भर्त्सना का पत्र लिख भेजा । मई, 1957 में भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम की शताब्दी मनाई गई थी । उस अवसर पर आकाशवाणी से अनेक रूपक प्रसारित हुए थे । सबसे पहला रूपक मैंने ही लिखा था । उसका बहुत सीमित क्षेत्र था । मुझे उसकी पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालना था । सामग्री बहुत कम उपलब्ध थी । और फिर वह एक डाकूमेण्ट्री रूपक ही तो था । संयोगवश वह साप्ताहिक हिन्दुस्तान में भी छपा । उग्रजी ने उसे पढ़ते ही तुरन्त मुझे वह भयानक पत्र लिखा । साथ ही साथ सम्पादक को भी खरी खोटी सुनाई । उसका सम्बोधन इस प्रकार था दसों जी महाशय विष्णु प्रभाकर । और अपने हस्ताक्षर इस प्रकार किये थे — वही उग्र (चर्वनिया पाठक)' ।'

*पत्र में मेरे नाम के साथ एक श्री के स्थान पर दस बार श्री लिखा* था । मैं जानता था कि वह साप्ताहिक हिन्दुस्तान के सम्पादक श्री बांके बिहारी भटनागर से अप्रसन्न हैं । शायद मेरे द्वारा की गई चार्लट की आलोचना से भी वह अप्रसन्न हुए हों अन्यथा रेडियो के आदेश पर लिखा गया वह रूपक इस योग्य नहीं था कि उसकी चर्चा की जाती । फिर भी मैंने अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए उन्हें पत्र लिखा । परन्तु न तो उन्होंने उसका कोई उत्तर दिया न मिलने पर ही इस बात की चर्चा की । उसी तरह मुक्त भाव से मिलते रहे । एक बार मैंने उनसे कहा, 'उग्रजी कृपया आप एक बार मेरे गरीबखाने पर भोजन करने पधारिये ।"

तब वह पान की दूकान पर पान खा रहे थे । एक पान मेरी ओर भी बढ़ाया । बोले सोच लिया है ?'

मैंने कहा, "इसमें सोचने की क्या बात है ? आप अग्रज हैं आपको आना चाहिए।"

वह मुस्कराए। केवल इतना ही कहा "ठीक है अच्छा ।"

लेकिन सहसा दूसरे व्यक्ति की ओर देखकर उन्होंने कहा 'हम बहुत से लोग घर पर बुलाते हुए डरते हैं।

उस व्यक्ति ने पूछा क्यों ?'

तलखी से बोले साला के घर में जवान लडकियाँ बहुएं जो होती हैं।'

मैं स्वीकार करूंगा कि मुझे यह सब अच्छा नहीं लगा। लेकिन उग्र जी तो उग्रजी थे। उनको अप्रतिभ होते मैंने एक ही बार देखा। आकाश वाणी पर कवि सम्मेलन था। दिल्ली के सभी प्रमुख साहित्यकार निमन्त्रित थे। उग्रजी थे, दद्दा मैथिलीशरण गुप्त भी थे। सम्मेलन समाप्त होने पर अपने स्वभाव के अनुसार दद्दा सबसे मिलते घूम रहे थे। मैंने कहा 'दद्दा उग्रजी भी आए हैं।"

दद्दा तुरन्त यह कहते हुए 'कहाँ हैं ?" उनकी ओर लपके और उन्हें सामने पाकर बड़े स्नेह से उनसे बातें करने लगे। कुशल समाचार पूछा और बोले, कभी गरीबखाने पर जूठन गिराने आइये न ?"

उग्रजी ने क्या जवाब दिया था ठीक शब्द याद नहीं हैं। निश्चय ही वह मधुर उत्तर था। लेकिन चलते चलते एकाएक दद्दा बोले महा-राजजी आपने अपनी प्रतिभा का बडा दुरुपयोग किया है।

उग्रजी हतप्रभ से देखते ही रह गए और दद्दा आगे बढ गए। यद्यपि इस स्पष्टता के पीछे स्नेह ही था फिर भी इसके दंश में कचोट तो थी ही पर उग्रजी एक शब्द नहीं बोले। शायद दद्दा के प्रति आदर के कारण शायद स्थिति की आकस्मिकता के कारण।

अंतिम बार मैं उनसे जयपुर में मिला था। तब उन्हें पहली बार दिल का दौरा पडकर ही चुका था। एक छोटे से कमरे में वे लेटे थे। आसपास कई मित्र थे। उन्हें देखकर यह नहीं लगता था कि वह अस्वस्थ हैं। वैसा ही जीवन, वही मुक्तता। मुझे देखकर वह उठ बैठे और काफी देर तक बड़े स्नेह से बातें करते रहे। स्नेह उनमें निश्चय ही था परन्तु

उनका व्यग्य विद्रूप वाला रूप इतना उभरकर सामने आता था कि शप सब कुछ उसमे छिपकर रह जाता था। वह मानो प्रतिक्षण बदला लने की भावना स प्रेरित रहते थे। उनके साहित्य की शक्ति बेशक व्यग्य पर आधारित थी लेकिन उनम और भी गुण थे। वह तीव्र समाज सुधारक और खरे दशभक्त थ। विस्तार के बावजूद शलीकार के रूप मे वह सदा जीवित रहग। चन्द हसीनो के खतूत' महात्मा ईसा, बुधवा की बेटी' और अपनी खबर जैसी उनकी रचनाए उनकी प्रतिभा का जयघोष करती रहगी। उसकी मा जैसी उनकी कहानिया उनके उस रूप का उजागर करती है जिसकी ओर हमारा ध्यान नही गया है।

वस्तुत उनका व्यक्तित्व अदभुत मनोग्रथियो का समूह था। उन्होन जिस स्नह समादर की अपक्षा की वह उन्हे न तो जीवन मे मिला न साहित्य म। वह जीवन भर अविवाहित रह, पर उस स्थिति को सह नही पाये। वह उन आक्रमणो की उपेक्षा भी नही कर सके जो उन पर हुए। अन्तर म टूट जान पर भी अपनी उपस्थिति का अनुभव कराने का कोई अवसर वह नही चूके। इसीलिए उनका व्यग्य दश अत्यन्त विपला और किसी सीमा तक दिशाहीन भी हो उठता था। लेकिन जसे झाग के नीचे शुद्ध सलिल बहता है उसी तरह उनके इस अनगढ़, अनियत्रित जीवन के पीछे एक सशक्त लेखक, एक दशभक्त और एक स्नेही मनुष्य का हृदय भी छलकता था। उन्होन नये सिरे स फिर लेखनी उठाई थी। पर काल भगवान अचानक ही उन्हें हमारे बीच से उठा ले गए। लेकिन साहित्य क इतिहास म वे सदा जीवित रहग।

# श्री सुदर्शन

जस ही सुदशन शब्द मस्तिष्क पर अकित होता है, मुझे हिमालय के ढलाना पर उग हुए चीड के वक्षा की याद आ जाती है। वही सुदीघ देह-यष्टि वही तन-मन को प्राणवायु से पुलकित कर देने वाला वातावरण। जहा व होत उ मुक्त अट्टहास वातावरण को आलाडित कर दता और मरघट की खामोशी महफिल की रगीनी म तबदील हो जाती। न जान कितने चुटकुले उ ह याद आते रहते। न भी आत तो हर बात को चुट कुलो के अदाज म कहते और तब बरबस ही सब हँस पडते। जब वे गभीर भी होते ता उनके बोलने का ढग इतना प्रभावशाली रहता कि सभी मत्र-मुग्ध हा उठते। सघष की कडवाहट उनके मजलिसी मानस को कभी परा-भूत नही कर सकी, बल्कि वही तो उनकी सहज उ मुक्तता का कारण बनी।

'हिंदी साहित्य सम्मेलन के वाराणसी अधिवेशन मे उनका पहली बार देखा था। वे कहानी सम्मेलन के अध्यक्ष बनकर आए थे। स्वागता-ध्यक्षा थी श्रीमती शिवरानी दवी। सुदशन और प्रमचद दोनो अभिन्न मित्र थे। सुदशन उदू के 'चदन के सम्पादक थे और प्रेमचद हिन्दी के 'हस के। दोनो एक दूसरे की कहानियो का अनुवाद एक दूसर के पत्रा म छापा करत थे और जब कभी एकसाथ बैठन का अवसर मिलना ता अपने उन्मुक्त अट्टहास स आसपास क वातावरण का खुशियो स भर दत।

उस दिन मैं श्रीमती शिवरानी दवीजी के पास बठा था कि दखता हू अनेक व्यक्ति वहा प्रवेश करत हैं। उनम सब स आग है इकहरे बदन का

एक लम्बा पुरुष। हाथ में छड़ी, नंगा सिर, बड़े फ्रेम के चश्मे के पीछे से झाकती मर्मभेदी आखें और लम्बे चेहरे पर आकर्षक मुसकान। श्रीपतराय ने बताया कि ये श्री सुदर्शन हैं। क्षण भर में प्रांगण कहकहों से भर उठा मानो जिंदगी छलक उठी। बम्बई में, दिल्ली में—जब भी देखा वही रूप, वही रंग। दूरी रखना तो जैसे वे जानते ही नहीं थे।

उनका जन्म 1896 ई० में स्यालकोट में हुआ था। कहा करते थे कि मेरे जन्म का वर्ष बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसी वर्ष 'चंद्रकांता-संतति' का प्रकाशन हुआ था। उनके पिता मध्यवित्त परिवार के कर्मकांडी ब्राह्मण थे परंतु वे हुए क्रांतिकारी आर्यसमाजी। उस युग में आर्यसमाज सच मुच एक क्रांतिकारी संस्था थी।

उनके बोलने का ढंग इतना आत्मीय और आकर्षक होता था कि अनेक युवक इसी कारण आर्यसमाज की ओर खिंच आते थे।

उनकी मातृभाषा पंजाबी थी। लिखना उन्होंने उर्दू में शुरू किया। और प्रेमचंद के समान शीघ्र ही हिंदी के क्षेत्र में आ गए। जब वे आठवीं कक्षा में पढ़ते थे तब उन्होंने एक कहानी लिखी थी और लाहौर में छपने वाले एक उर्दू रिसाले में भेज दी थी। कई महीने बाद वह कहानी छपी। तब तक वे उसे भूल चुके थे। एकाएक एक दिन उनके हेडमास्टर ने प्रार्थना के बाद सारे स्कूल के सामने उन्हें पुकारा, "आठवीं क्लास का विद्यार्थी बद्रीनाथ यहां आ जाए।'

सुदर्शन जी का वास्तविक नाम बद्रीनाथ ही था। डरते डरते बालक बद्रीनाथ हेडमास्टर के पास पहुंचा, पर वे तो क्रुद्ध होने के स्थान पर उस के सिर पर हाथ फेरकर बोले, 'शाबाश बद्रीनाथ, तुमने अपने स्कूल का नाम रोशन किया है।

इतना कहकर उन्होंने उस रिसाले में छपी उनकी कहानी को पूरा पढ़ा, सम्पादक का वह नोट भी पढ़ा जिसमें उसने बालक बद्रीनाथ की प्रशंसा करते हुए लिखा था कि एक दिन उर्दू साहित्य में इसका नाम चमकेगा।

उनके हिंदी में आने की कहानी बड़ी रोचक है। वे उर्दू जानते थे, लेकिन उनकी पत्नी जानती थीं हिंदी। वे कन्या महाविद्यालय जालंधर

भी वे नहीं चूके। और व मात्र साहित्य म ही प्रहार करके नहीं रह गए, अपन जीवन म भी उन्होन रूढिया और अधविश्वासा स लोहा लिया। विवाह के पश्चात निश्चय हुआ कि उनके घर म परदा नहीं रहगा, लेकिन जिस समय श्रीमती सुदशन घर के बड़े बूढ़ो के सामन खुले मुह आइ तो जसे तूफान आ गया। उन्हान उसी समय घर छोड दन का निश्चय कर लिया परन्तु झुकना स्वीकार नही किया। यही उनके सघषमय जीवन का आरम्भ था। यही सघष उनके साहित्य म भी प्रतिबिंबित हुआ। उनक सामने एक आदश था जीवन को उदात्त बनान का। इसी दष्टि म किसी न किसी आदशवादिता के आधार पर उन्हान अपनी कथाओ का ताना-बाना बुना। उनकी प्रसिद्ध कहानी 'हार की जीत' मे एक वाक्य आता है— लोगो का यदि इस घटना का पता चल गया तो वे किसी गरीब का विश्वास नही करेंगे। दुनिया म विश्वास उठ जाएगा।' इसी आदश-वादिता के आधार पर उन्होन इस कहानी म बाबा भारती और डाकू के चित्र तथा घटनाओ की कल्पना की है और अपनी सहज सरल बामुहावरा भाषा म उन्ह चित्रित किया है। उनकी कहानिया म नतिक मूल्यो के आदश उभरे हैं लेकिन उन्होने उनको यथाशक्ति कलात्मक रूप दने का प्रयत्न किया है। वह युग ही हृदय-परिवतन का था, परन्तु वे नग्न यथाथ को भूल ही गए हो, ऐसी बात नही। 'घोर पाप'-जैसी कहानिया इसका प्रमाण हैं।

उनको वातावरण प्रधान कहानियो मे 'प्रसाद' का कवित्व नही है, यथाथ की गरिमा है। मनोविश्लेषण भी नही है क्योकि मानव मन के अधकूपो म पहुचन का माग उस युग म खोजा नही जा सकता था। वे उदू म हिंदी मे आए थे। इसलिए उनकी भाषा सरल और चुभती हुई है। उसम उर्दू की रवानी है और उसके मुहावरा का सफल प्रयोग भी। 'कमल की बेटी' 'ससार की सबसे बडी कहानी' 'हार की जीत' 'एथेंस का सत्यार्थी' 'कवि की पत्नी' 'पत्थरो का सौदागर' और 'न्यायमत्री' आदि उनकी कुछ कहानिया किसी न किसी समय लोकप्रिय रही है। उनकी अपनी दष्टि मे उनकी सवश्रेष्ठ कहानी है 'बाप का हृदय'।

उपन्यास के क्षेत्र मे उनकी प्रतिभा विशष विकसित नही हुई। लेकिन

नाटक क क्षेत्र मे, विशेषकर सिने नाटक के क्षेत्र मे, वे बहुत लोकप्रिय हुए। रग नाटको मे 'अजना , 'सिक दर' और 'भाग्यचक्र उल्लेखनीय है। भाग्यचक्र के आधार पर सुप्रसिद्ध फिल्म डायरेक्टर बरुआ न बगला म चलचित्र बनाया था। यह पहला चलचित्र था जिसे किसी बगाली निर्देशक ने हिंदी कथा के आधार पर बनाया। बगाली इसस बहुत अप्रस न हुए। उ होन पत्रा म इसके विरुद्ध आ दोलन भी किया।

भाग्यचक्र हिंदी मे धूप छाव के नाम स निर्मित हुई थी। स्वाधीनता सग्राम की पष्ठभूमि पर रचित सिक दर' उनकी एक और सशक्त रचना है। इसके आधार पर बना चलचित्र भी अत्यत लोकप्रिय हुआ। 'पथ्वी-वल्लभ पडोसी पत्थरो का सौदागर, परख और 'कुदन उनके अनक चलचित्रा म से कुछ हैं जा लोकप्रिय हुए है।

बाल और किशारोपयोगी साहित्य लिखने म भी उ होन काफी रुचि दिखाइ। अनुवाद भी किए, लेकिन गोष्ठी कथा कहन म उनकी तुलना शरतचद्र चट्टोपाध्याय से ही की जा सकती है। उनकी कल्पना शक्ति अदभुत थी। ऐस बोलत थे मानो आखा देखी घटना का वणन कर रह हो। काश सुदशन की एमी कथाओ का सकलन हुआ होता ! टेलीविजन पर उनका यह रूप देखकर ही लोग मुग्ध हो उठे थे। शरतचद्र की तरह सुदशन को भी बढिया पन रखने का शौक था। बच्चा के बीच बैठकर वे कहानिया और कविताए सुना सुनाकर इतना हँसाते थे कि बच्चे हटन का नाम नही लेत थ।

उ हाने जीवन भर सघप किया। स्यालकोट म ज म लेकर सुदूर बबइ मे जाकर बस। बीच मे कहा-कहा नही घूमे, क्या क्या नही किया ! कैसी तगी और लाचारी मे दिन बिताए ! लेखक के रूप मे प्रसिद्ध हो जान पर भी आर्थिक अवस्था दिन पर दिन गिरती ही गई। लकिन उ होन किसी क आगे हाथ नही फैलाया।

घर मे खान के लिए कुछ भी नही है। वे उदास है। तभी उनक एक धनी मित्र आते हैं। कोई थिएटर-कम्पनी शहर मे आई है। मित्र कहत हैं—"आज हम सब लाग नाटक देखन के लिए चलेंगे। मैंन टिकट खरीद लिये हैं।"

सुदर्शन जी इनकार कर देते हैं, लेकिन वे मित्र नहीं मानते। कहते है— 'आप नहीं जाएंगे तो कोई नहीं जाएगा। मैं इन टिकटों को जला दूंगा।'

उनकी पत्नी किसी तरह कह सुनकर उन्हें भेज देती हैं। थियेटर में पहुंचते ही वे सब-कुछ भूल कर हँसी मजाक में डूब जाते हैं। मध्यान्तर आता है। मित्र पूरी और मिठाई मंगवाते हैं। पंडितजी उद्विग्न हो उठते हैं— मैं लड्डू पूरी खाऊंगा! घर पर पत्नी और बच्चे बिलबिला रहे हैं

किसी तरह नाटक खत्म होता है। घर आकर पत्नी से कहते है, अच्छा हुआ तुमने मुझे नाटक देखने भेज दिया। खूब लड्डू पूरियां खाकर आया हूं।'

पत्नी हँस कर उलाहना देती है अकेले अकेले खा आए!

'जी नहीं,' पंडितजी जेब में हाथ डालते हैं और लड्डू निकाल कर कहते है, 'ये आपके लिए चुपचाप जेब में डाल लिए थे।"

पत्नी मुसकराकर कहती हैं, "तो आप चोरी भी करने लगे!"

पंडितजी उत्तर देते है "अगर मैं चोरी न करता तो कसाई होता।'

दो वर्ष के लिए कानपुर की लालइमली फर्म में नौकर हो गए है। गांधीजी का सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ हो जाता है। पत्नी जुलूस का नेतृत्व करने के लिए घर से निकल पड़ती है। वे स्वयं जेल तो नहीं जा पाते, परन्तु नौकरी से हाथ अवश्य धो बैठते है। उन्हें इस बात का सतोष है कि उनकी पत्नी देश के स्वतन्त्रता संग्राम में भाग ले सकती है। भले ही भूख का देवता उनके परिवार को फिर से अपने आवरण में ले लेता है! वे मानते है कि साहित्यकार अपनी रचनाओं के माध्यम से ही देश का मार्गदर्शन करता है। सुप्रभात में संग्रहीत कहानियों में देश पर मर मिटने की आग तथा शासकों के उग्र अत्याचार का विशद रूप उभरा है।

अंतत वे बम्बई में आकर बसे और सफल हुए। प्रेमचंद भगवतीचरण वर्मा भगवतीप्रसाद वाजपेयी, यहां तक कि पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' जैसे लेखक भी जिस क्षेत्र में नहीं टिके वहां उनका सफल होना इस बात का प्रमाण है कि वे मात्र आदर्शवादी नहीं व्यवहारकुशल भी थे। इसीलिए

वे उस गदी दुनिया म भागे नही परन्तु उसमे डूब भी नही । उ होने अपन चारो ओर एक लक्ष्मण-रेखा खीच ली थी। उसको लाघन का उ होन कभी प्रयत्न नही किया—जैसे वे कभी किसी महिला मित्र कलाकार के साथ कार म भी नही बैठे ।

आज ये सब बातें उपाहासास्पद लगती है, लेकिन जिस वातावरण म वे जिए थे वहा एसी बातो का निश्चित ही मूल्य था । यह भी ठीक है कि इस प्रकार की वजनाओ ने उनके अ तर के कलाकार का धूमिल ही किया। यदि वे फिल्म-ससार म न जान तो शायद उनका कलाकार मुक्त होकर प्रकाश की ऊचाइया का छू सकता। जीवन की विवशता व्यक्ति की सहज आस्थाओ और आकाक्षाओ का इसी प्रकार कुठित कर देती है । लकिन यह भी सत्य है कि ये कुठाए उनके जीने की चाह को कभी नही कुचल सकी । इसीलिए वे अन्त तक मुक्तकण्ठ से हँसत रह और उनकी सारी व्यथाए उस हँसी म डूबती रही । उ हाने नये आन्दोलना का कभी विरोध नही किया ।

किसी ने उनसे पूछा था कि उनकी दष्टि म उनकी सवश्रेष्ठ कहानी कौन सी है ? उ होने कहा था—'मरा सीधा उत्तर यह है कि मेरी सव-श्रेष्ठ कहानी वह है जो अभी तक लिखी नही गई, अर्थात जो अभी कल के गभ म है और कल का मतलब वह कल है जिसके बाद दूसरा कल न हो और सवश्रेष्ठ कहानी का मतलब वह कहानी है जिसस बढकर और कहानी लिखी जाने की सभावना न हो। इसलिए मैं इस प्रश्न का उत्तर तब द सकता हू जबकि मैं यह निश्चय कर लू कि आज स लिखना ब द कर दिया।'

लेकिन यह निश्चय करने क पूव वे स्वय ही अतीत बन गए । परन्तु क्या वे इस प्रश्न का उत्तर नही दे गए ? क्या उन्होने यह प्रमाणित नही कर दिया कि वे अन्तिम क्षण तक लिखने की कामना रखत थे और किसी रचना की श्रेष्ठता का निणय पाठको की अदालत म ही हो सकता है लेखक के मस्तिष्क म नही ।

# भवानी प्रसाद मिश्र

किसी को जानने का दावा सचमुच बड़ा दम्भ है। इसलिए इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं होनी चाहिए कि प्रत्येक दम्भी व्यक्ति की तरह यदि मैं भी किसी और के बारे में लिखने का दावा लेकर अपने ही बारे में लिखने लगूं।

नाना कारणों से मैं तटस्थता की अजगरी वृत्ति का शिकार हो गया हूं। समझने लगा हूं कि यही एक मात्र शक्ति का मार्ग है लेकिन साथ ही यह अनुभव भी मुझे हुआ है कि इसी वृत्ति के कारण एक अजीब सी सर्वग्रासी उदासी ने मुझे घेर लिया है। ऐसी स्थिति में एक दिन सहसा पढ़ने को मिली एक कविता 'अकेला तो सूरज भी नहीं है'।

उदास इस एकांत में
शाम छुहाआ
इस सहज शांत में।
चला उतर कर नीचे की सड़क पर
जहां जीवन सिमट कर बह रहा है
साहस की दिशा में।
जहां अनकिया प्रेम
कल्पनाओं पर तरल है
सबके बीच में
जीवन सरल है
उदास

दामन छुड़ाओ इस महज शान्त से
जो न शक्ति देता है न श्रद्धा।
सिर्फ उदास बनाता है
कूटस्थ रहने से
कुछ नहीं बनेगा
न तटस्थ रहने से
समष्टि को जीने में, सहने में
जीता है आदमी।
अकेला तो सूरज भी नहीं है
उससे ज्यादा अकेलापन
तुम चाहोगे?
मृत्यु तक तटस्थता निभाओगे?
सिमट कर बहने हुए जीवन में उतरो
घाट से हाट तक
हाट से घाट तक आओ जाओ
तूफान के बीच गाओ
मत बैठो ऐसे चुपचाप तट पर।
तटस्थ हो या कूटस्थ हो
इससे फर्क नहीं पड़ता।

पढ़ कर रोमांचित हो आया था। जैसे कवि ने मुझे ही लक्ष्य करके कहूँगा सम्बोधित करके यह कविता लिखी है। इतना महत्त्व दिया है मुझे कवि ने, पर मैं जानता हूँ मैं अकेला कहाँ हूँ। मेरी एक पूरी जाति है। वही पूरी जाति कवि के उद्बोधन की परिधि में है, लेकिन मैं तो अपनी बात जानता हूँ। यह कविता पढ़कर एक असीम कृतज्ञता कवि के प्रति मेरे रोम राम में उमड़ आई थी। कवि के और पाठक के बीच का यह कृतज्ञ अपनापन ही तो कवि की पवित्र सम्पत्ति है।

कवि मेरे अपरिचित हों सो बात नहीं है। उससे पहले भी अनेकानेक कविताएं उनकी पढ़ चुका था पर यह एक थी कि मन को छू गई क्योंकि कवि की और मेरी अनुभूति एक थी। कवि मेरा अपना था।

# भवानी प्रसाद मिश्र

किसी को जानने का दावा सबस बडा दम्भ है। इसलिए इसमे आश्चय की काई वात नही होनी चाहिए कि प्रत्येक दम्भी व्यक्ति की तरह यदि मै भी किसी और के बारे म लिखने का दावा लेकर अपन ही बारे म लिखन लगू।

नाना कारणो से मैं तटस्थता की अजगरी वत्ति का शिकार हो गया हू। समझन लगा हू कि वही एक मात्र शक्ति का माग है लेकिन साथ ही यह अनुभव भी मुझे हुआ है कि इसी वत्ति के कारण एक अजीव सी सवग्रासी उदासी ने मुझे घेर लिया है। ऐसी स्थिति म एक दिन सहसा पढन को मिली एक कविता 'अकेला तो सूरज भी नही है।"

उठा इस एकान्त से
दामन छुडाओ
इस महज शान्त स।
चलो उतर कर नीचे की सडक पर
चलो जीवन सिमट कर बह रहा है
साहस की दिशा मे।
जहा अर्तकित प्रेम
कठोरताओ पर तरल है,
सबके बीच म
जीवन सरल है
उठा इस एकान्त से

दामन छुडाओ इस महज शा त स
जो न शक्ति देता है न श्रद्धा ।
सिफ उदास बनाता है
कूटस्थ रहने स
कुछ नही बनेगा
न तटस्थ रहने स
समष्टि का जीने म, सहन से,
जीता है आदमी ।
अकेला तो सूरज भी नही ह
उससे ज्यादा अकेलापन
तुम चाहोगे ?
मत्यु तक तटस्थता निभाओग ?
सिमट कर बहन हुए जीवन म उतरो
घाट स हाट तक
हाट स घाट तक जाओ जाओ
तूफान के बीच गाओ
मत बठो ऐस चुपचाप तट पर।
तटस्थ हो या कूटस्थ हो
इससे फक नही पडता ।

पढ कर रामाचित हो आया था। जिस कवि न मुझे ही लक्ष्य करके कहूगा सम्बोधित करके यह कविता लिखी है । इतना महत्त्व दिया है मुझे कवि न, पर मैं जानता हू मै अकेला कहा हू । मेरी एक पूरी जाति है । वही पूरी जाति कवि के उदबोधन की परिधि म है लेकिन मैं तो अपनी बात जानता हू । यह कविता पढकर एक असीम कृतज्ञता कवि क प्रति मेर रोम-रोम मे उमड आई थी । कवि के और पाठक के बीच का यह कृतज्ञ अपनापन ही तो कवि की पवित्र सम्पत्ति है।

कवि मेरे अपरिचित हो सा बात नही है। उसस पहल भी अनकानक कविताए उनकी पढ चुका था पर यह एक थी कि मन को छू गइ क्योंकि कवि की और मेरी अनुभूति एक थी। कवि मेरा अपना था।

कवि का नाम है श्री भवानीप्रसाद मिश्र, जि हे प्यार से मित्र भवानी भाइ कहत है। भवानी भाई उन माहित्यकारो म अग्रणी है जो अपने व्यक्तित्व को कही झुकन नही देते। उनकी जस सहज निझर की तरह झरती है वसा ही है उनका व्यक्तित्व। सहज, सरल, सौम्य और स्नहशील। स्वाधीनता सग्राम के सनिक और गाधी नीति मे रच पच वे अयाय का प्रतिकार करन को सदा कटिबद्ध रहत हैं। इसीलिए उनकी उग्रता म ताप नही है। इसलिए स्वाभिमानी होकर भी वे सौम्य है। बागला देश के प्रश्न को लेकर जब उन्होने प्रधान मत्री को सम्बोधित करत हुए कहा था 'इदिरा गाधी तुम गाधी तो नही हो।' तो इस सात्विक आवेश के पीछे अयाय का प्रतिकार करन की भावना थी।

भवानी भाइ की कविता मे नाटकीय तत्त्व प्रधान है। सुनन म इसीलिए अच्छी लगती है। उनका व्यग कचोटता ह तो गुदगुदाता भी है। हम उनके साथ साथ स्रात म जैसे बहते चलत है, पर वह बहना मात्र मनोरजन या आनन्द की अनुभूति ही नही है गहन म डूबना भी है। बिना डूबे चोट शक्ति कहा बनती है। चितन कारगर कहा होता है। आनन्द की अनुभूति तो तभी साथक हाती है। नाटकीय तत्त्व के कारण चमत्कार का भ्रम वहा है पर वह गहन को ग्राह्य बनाने मात्र के लिए है।

उनकी कविता पढता हू तो खो जाता हू। चारा तरफ ही रहस्यमय है वह जैसे सहजगम्य हो जाता है क्योकि उनकी कविता जीवन की कविता है, शौक की नही।

विच्छिन्न करता हू
अपना को जब दूसरा स
ता खिन्न करता हू
अपनो को और दूसरो को
अभिन्न करता हू जब
अपन को सब स
ता फूल खिलाता हू जस
चारा तरफ
दूसरो को करता हू

हरा भरा
कण कण जरा जरा

जो गहर हैं व कहत हैं कि सरलता माहित्य नही है। न हा जीवन ता है। लकिन भवानी भाई महज सरल ही हा सो वात नही। उनम एक एसा तज है जा उनकी प्रतिभा का गनि ही नही दता, उनकी विनम्रता का गौरव भी दता है। वे वडे प्यार मित्र हैं, पर खरे और स्पष्टवादी।

कूटनीति म उनका अपरिचय ही है। जा है वाहर भीतर एक ह। तभी तो उनका व्यग कभी कभी कटु भी लगता है, पर वास्तव म कटु सत्य है। याद आता है—एक वार व घर आए थे। वच्चे उन्ह कवि के रूप मे पहचानत थे। इसलिए उनकी ओर मे कविता सुनन का आग्रह अस्वाभाविक नही था परन्तु भवानी भाइ वोले, 'सुनाऊगा, पर आज नही। आज भोजन किया है। कोई तो ऐसा हो कि ।"

शब्द ठीक ही नही थे। शायद सुनकर वहुता को अच्छा भी न लगा हो। पर दूसर ही क्षण मैं तो गदगद हो गया था कि कोई तो एसा है। इसके और भी अथ लगाए जा सकत है लेकिन मेरी दष्टि म इसके पीछे न तो अभद्रता है और न अभिमान उपक्षा की भावना। महज साहित्यकार की गरिमा की सहज अभिव्यक्ति है।

भवानी भाई गाधी युग के तपस्वी साधक हैं। कमठता और ईमानदारी उनकी शक्ति है। वे प्रतिवद्ध है, अपनी शक्ति के प्रति, अपन व्यक्ति के प्रति और उसी के माध्यमसे विराट मानव के प्रति। उनका भग्न स्वास्थ्य भी उनकी कायक्षमता के माग की वाधा नही बन सकता। हृदय रोग स पीडित होकर भी उनकी साधना की अखण्ड ज्योति जरा भी धूमिल नही हुई।

एक और पुरानी घटना स्मति पटल पर उभर रही है। सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री चतुरसन शास्त्री के घरपर काई उत्सव था। शायद भाई की वटी का विवाह था। अनक मित्र आमन्त्रित होकर आए थे। ऐसे वातावरण मे कुछ वन्धु एक स्थान पर वठे स्नेहपूण व्यगविनाद म व्यस्त हो उठे। उनम मिश्रजी भी थे। शास्त्रीजी ने खान के लिए मिष्ठान भिजवा दिया था। इसलिए अटटहास और भी जीवन्त हो आया। मैं

मिश्रजी के बिलकुल पास बैठा था कि सहसा देखता हू, सज्ञाहीन होकर कटे हुए वृक्ष की तरह वे मेरी गोद म गिर पडे हैं । इस आकस्मिकता स मैं हतप्रभ रह गया। क्षण भर म सभी मित्र घिर आए। किसी तरह उठा करउ हे खाट पर लटाया। इसी सज्ञाहीन अवस्था म उन्हे वमन भी हो गई।

नेटा के विवाह म यह कसी त्रासदी। सभी व्यस्त होकर इधर उधर दौडन लग, लकिन तभी क्या हुआ कि दो मिनट बाद ही मिश्रजी न आखें खाल दी। इधर उधर दखा, तुरत उठ बठे, बोले, 'मैं बिलकुल ठीक हू आप चिता न करें।

और वे वसे ही व्यवहार करने लगे जैसे दौरा पडन म पूव कर रहे थे। समझ गए थे कि क्या हुआ है। इसी एहसास न उन्हे शक्ति दी और उन्होंने कहा, 'टक्सी मगवा दीजिए, मैं घर जाऊगा।'

अकेले घर जाएग ?'

"हा हा, भाई। म बिलकुल ठीक हू।'

पर मित्र नहीं माने। तुरत टक्सी आ गई और उनके मना करने पर भी श्री उदयशकर भट्ट उनके साथ गए।

एक दिन सात्विक स्वाभिमान देखा था, उस दिन साहस देखा। लगा कि यह व्यक्ति कितना विवेकशील है। विवेक के अभाव मे बुद्धि और प्रतिभा दिशाभ्रष्ट हो जाती है और व्यक्ति गर्हित अह की अति का शिकार होकर मनुष्य को मनुष्य से दूर करता है।

पिछले 20 25 वष स उनस परिचित हू। जसा प्रारम्भ म कहा जानने का दावा तो दम्भ है, पर दूर और पास से जितनी भी झलक देख पाया हू, उसके आधार पर इतना ही कह सकता हू कि भवानी भाई म ऐसा कुछ अवश्य है जो उन्हे साधारण से अलग करता है और वह ऐसा कुछ न दम्भ का पर्यायवाची है और न मिथ्याभिमान का। वह है प्रतीक एक गाधी युग के साधक के सात्विक स्वाभिमान और विवेकशील प्रतिभा का।

भवानी भाई की मूर्ति की कल्पना करता हू तो देखता हू कि उनके मुख की सहज सौम्यता पर कभी कभी आग्रह और आवेश की छाया ऐसे छा जाती है जैसे राहू केतु सूयचन्द्र को अपनी छाया मे ग्रस लेते हैं। पर

वह उनका स्थायी भाव नहीं है। उनकी सबसे बड़ी पूजी है उनके नन्न जो एक साथ स्नेह और स्वाभिमान से छलकते है। उनका यह स्वाभिमान ही कभी भाषा के प्रेम के रूप म, कभी देशभक्ति के रूप मे आग्रह और आवेश का भ्रम पैदा कर देता है।

लेकिन गाधी नीति की नींव पर पनपी उनकी तेजस्विता उन्हे सदा सभी प्रकार की अतियो स मुक्त रखती है। इसलिए जहा उन्हे कभी चेतना स घबराहट हाती है वहा उनकी साधना उनके कवि का यह कहने के लिए विवश कर दती है

तकाजा मगर प्राणवत्ता का
रोज अनुक्षण
हवा मे आवाज लगा रहा हू
मरने वाले तत्व
जीवन म नहीं हैं
मगर फिर भी किसी भरोसे के साथ
गोया उन्हे जगा रहा हू

यही 'प्राणवत्ता' कवि की नियति है और भवानी भाइ की भी, जिन्होने नियति का अपनी शक्ति बना लिया है।

# श्री रामधारीसिंह दिनकर

नियति भी कभी कभी तीखा व्यंग्य करती है। 31 मार्च की रात को मद्रास में एक उद्योगपति के घर पर भोज का आयोजन था। मैसूर के गवर्नर श्री मोहनलाल सुखाड़िया और श्री रामनाथ गोयनका आदि अनेक गण्यमान्य व्यक्ति उसमें सम्मिलित हुए थे। अचानक अगले दिन होने वाले कवि सम्मेलन की चर्चा चल पड़ी। गोयनकाजी बोले 'मैं तो दिनकरजी को मानता हूं, आपने उन्हें तो बुलाया ही नहीं।'

किसी को क्या पता था कि दिनकर जी शीघ्र ही मद्रास आएंगे और फिर कभी नहीं लौटेंगे। सचमुच 24 अप्रैल को उनकी आत्मा अचानक ही उनकी पार्थिव देह को छोड़कर अनन्त में विलीन हो गई मात्र शरीर ही पटना पहुंच सका।

उनका जाना आकस्मिक और असामयिक था पर साहित्य के क्षेत्र में उनका उदय सहज भाव से हुआ था। उन्हें वह सब प्राप्त हो चुका था जो किसी साहित्यिक के लिए काम्य हो सकता है। सम्मान, पद कीर्ति और अर्थ सभी ने तो उनका वरण किया था लेकिन फिर भी उनके अन्तर में कहीं दर्द था, एक बेचैनी थी, जिसके सूत्र खोजने का समय सम्भवतः अभी नहीं आया। शायद व्यक्ति दिनकर और साहित्यिक मनीषी दिनकर पूर्णतः एकाकार नहीं हो पाए थे। व्यक्ति की समस्याएं जहां साहित्यिक को प्रेरणा देती थीं वहां आशंकित भी करती थीं।

लेकिन अभी रहने दें उस सूत्र को। अतीत में झांकता हूं तो पाता हूं कि जिन कवियों ने मेरे मन के आसन पर अधिकार जमा लिया था उनमें

'दिनकर' प्रमुख थे। यह भी कैसा विरोधाभास है कि प्रकृति से, नितान्त अहिंसक होते हुए भी मुझे संन्यासियों में सबसे प्रिय थे 'योद्धा संन्यासी विवेकानन्द' और कवियों में औघड़दानी कबीर। फिर निराला ने मुझे आकर्षित किया और उसके बाद आए 'दिनकर'। एक दिन कबीर ने पुकारा था—

कबिरा खड़ा बाजार में लिए लुकाठी हाथ।
जो घर जारे आपना वह आए हमारे साथ॥

'दिनकर' के जिस स्वर ने मुझे आकर्षित किया, वह भी वैसा ही तेजस्वी था—

सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।
या फिर
तान तान फण व्याल कि तुझ पर बांसुरी बजाऊं।

गांधीजी की जो मूर्ति मेरे मानस पर अंकित है वह डांडी मार्च की मूर्ति है। एक दुबला पतला परम तेजस्वी मानव हाथ में लकुटिया लिए लम्बे लम्बे डग भरता हुआ, समुद्र की ओर बढ़ रहा है मानों साहस की मूर्तिमान प्रतिमा त्रिलोकी को चुनौती देने चल पड़ी हो। इस सब में शरीर की वीरता कहीं नहीं है मनोबल ही है। यही मनोबल मुझे खींचता रहा। इसी कारण दिनकर मेरे प्रिय हो उठे। वे उन सर्वाधिक सामर्थ्यवान कवियों में थे जिन्होंने जनता के आक्रोश और विद्रोह को स्वर दिया। जनता के ओज को वाणी दी। वे सचमुच नव जागरण के चारण थे। इसीलिए जनता ने प्राण भरकर श्रद्धा उन्हें दी। राष्ट्रकवि का विरुद भी दिया।

गांधी युग में उन्होंने यश की सीमाओं को छुआ पर वे गांधीवादी नहीं थे। गांधी की अहिंसा को वे व्यक्ति के उत्थान तक ही स्वीकार करते थे। 'कुरुक्षेत्र' में ही उन्होंने अपनी इस मान्यता को स्पष्ट कर दिया था।

व्यक्ति का है धर्म तप, करुणा, क्षमा,
व्यक्ति की शोभा विनय भी त्याग भी,

किन्तु उठता प्रश्न जब समुदाय का,
भूलना पडता हमें तप त्याग को।
या
त्याग, तप, करुणा क्षमा से भीग कर,
व्यक्ति का मन तो बली होता मगर,
हिंस्र पशु जब घेर लेते हैं उसे,
काम आता है बलिष्ठ शरीर ही।

उन्होंने स्पष्ट शब्दों में पुकारा—

छीनता हो स्वत्व कोई, और तू
त्याग तप से काम ले यह पाप है
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे
बढ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।

गांधी जी के प्रति पूरी श्रद्धा व्यक्त करते हुए भी परशुराम की प्रतीक्षा तक उनका यही स्वर रहा। अन्याय का प्रतिकार तो गांधी जी भी चाहते थे। पलायन और कायरता के वे परम शत्रु थे पर वे मारने से भी उत्तम साधन मानते थे मरने को और आत्म बलिदान को लेकिन वे यह भी कहते थे कि यदि कोई मर नहीं सकता तो कायर बनने से अच्छा है मारना। उनके लिए ओज और सामर्थ्य का अर्थ हिंसा नहीं था। अहिंसा के बिना ओज और सामर्थ्य उनके लिए व्यर्थ थे।

यह मतभेद बराबर बना रहा। और इसी सीमा तक मैं भी दिनकर को स्वीकार नहीं कर सका। जो व्यक्ति का धर्म हो सकता है वह समुदाय का भी हो सकता है होना चाहिए लेकिन इसके कारण कवि दिनकर के प्रति मेरी भावना में कोई अन्तर नहीं पडा।

लेकिन दिनकर जी मात्र ओज के ही कवि नहीं थे। दूसरे रसों में भी उनकी गति थी। अपने महाकाव्य उर्वशी के द्वारा उन्होंने रसों में श्रेष्ठ रस शृंगार रस का आश्रय लेकर मानव की शाश्वत समस्या को समझने और सुलझाने का भी प्रयास किया। वे कितने सफल रहे इसका निर्णय सदा विवादास्पद रहेगा पर 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' के अधिकारी होकर उन्होंने अपना वर्चस्व स्थापित तो कर ही दिया। आज कविता

अनक परिवतना को वहन करती हुई, एक शिष्ट और व्यवस्थित ढाचे को तोडती हुइ बहुत आगे बढ गइ है, उसकी चर्चा करने का मैं अपन को जरा भी अधिकारी नही मानता पर इतना अवश्य कहना चाहूगा कि जहा तक कथ्य भाषा का सम्ब ध है 'दिनकर ने बोलचाल की भाषा का ही कविता की भाषा स्वीकार किया।

'दिनकर मात्र कवि ही नही है चिन्तक भी हैं। साहित्य अकादमी न उनके इसी रूप को स्वीकृति दी है *'सस्कृति के चार अध्याय'* को पुरस्कार प्रदान कर। उसन उन्हें एक प्रमुख गद्य लेखक की सज्ञा दी। भारतीय विचार परम्परा को जनसाधारण के लिए सहज स्वीकाय बनाने की दृष्टि स ही इस ग्रन्थ की रचना की गई है। यह विद्वत्ता का जय घाप करन वाला ग्र थ नही है अपितु भारतीय सस्कृति को समझ सकन की सामथ्य देन वाला स दभ ग्रन्थ अवश्य है। उ होने भूमिका म स्वय कहा है मरा अपना क्षेत्र तो काव्य है एव मेरे साहित्यिक जीवन का यश और अपयश मेरे काव्य पर निभर करता है किन्तु जिस परिश्रम म मैंने यह पुस्तक लिखी है उस परिश्रम म और कुछ नही लिखा इस ग्रन्थ को एक बार दख जाने का अनुरोध मैं सबस करता हू।'

उन्हान काव्य की आलोचना को लेकर भी कई कृतिया का सजन किया। बच्चा क लिए भी सु दर रचनाए दी। वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उनका इस प्रकार असमय मे चले जाना दुखदाई है। विचारक या साहित्यकार की दष्टि से नही बल्कि एक साधारण पाठक की दष्टि स ही मैंन जो अनुभव किया वह लिखा है क्योंकि मैं यह स्वीकार करता हू कि जनता स एकाकार होने वाले विरल लेखको मे स वे एक थे। यही तथ्य उनकी शक्ति थी और यही दुबलता भी। इसी नात वे मुझे अपनी ओर खीचत रहे। इसी नाते मैं उनकी स्मति के प्रति नत मस्तक हू।

## प० इन्द्र विद्यावाचस्पति

प० जवाहरलाल नेहरू न 'मेरी कहानी' म स्वामी श्रद्धान द के लिए लिखा है—"विशुद्ध शारीरिक साहस का, किसी भी अच्छे काम मे शारीरिक तकलीफ सहने और मौत की परवा न करन वाली हिम्मत का मैं हमेशा स प्रशसक रहा हू। मेरा खयाल है कि हम मे से ज्यादातर लोग उस तरह की हिम्मत की तारीफ करते हैं। स्वामी श्रद्धान द म इस निडरता की मात्रा आश्चयजनक थी। लम्बा कद भव्य मूर्ति, स यासी के वेश म बहुत उमर हो जाने पर भी, बिलकुल सीधी चमकती हुई आखें और चेहरे पर कभी कभी दूसरो की कमजोरियो पर आने वाली चिड चिडाहट या गुस्से की छाया का गुजरना—मैं इस सजीव तसवीर को कैस भूल सकता हू। अक्सर वह मेरी आखा के सामने आ जाती है।

इन्द्र जी इन्ही स्वामी श्रद्धान द (पूव नाम महात्मा मुशीराम) के पुत्र थे। उनके सम्ब ध मे बिलकुल वैसा कुछ तो नही कहा जा सकता, लेकिन निश्चय ही वह उसी परम्परा मे अवश्य थे। वह अपन पिता के पुत्र थे। भारतीय स्वतत्रता सग्राम के वह एक ऐसे चरित्र थे जिनक बहुत महान हान की आशा थी, लेकिन कि ही कारणा स वह आशा पूरी नही हो सकी। जसे किसी ने किसी पछी के पर काट लिए हो या सोते समय उस राजकुमारी के बाल काट दिए हो जिसकी सारी शक्ति उन्ही बालो म थी। इन्द्र जी इतिहास के एक दुखा त चरित्र बनकर रह गए, लेकिन फिर भी उनकी विशेषताए साधारण नही हैं। दु ख यही है कि उनका मूल्याकन नही हो पाया।

उनको प्रत्यक्ष देखने से पहले ही मेरे मन मे उनके प्रति श्रद्धा पैदा हो गई थी। आयसमाज के प्रति मेरे प्रेम के कारण नही, इस कारण भी नही कि वह स्वामी श्रद्धानन्द के पुत्र थे, बल्कि इस कारण कि वह निडर और साहसी थे। किसी भी दबाव म आकर वह अपनी राय नही बदल सकते थे। उन्होने उस समय भी राष्ट्रीय महासभा का साथ नही छोडा था जिस समय पजाब केसरी लाला लाजपतराय और स्वय उनके पिता उसके विरोध मे खडे हो गए थे।

मेरी श्रद्धा का एक और कारण भी था। वह लेखक थे और मैं लेखक होना चाहता था। लेखक के प्रति मेरी सहज आस्था थी और वह मात्र लेखक ही नही थे मेरे प्रिय लेखक थे। भाषा आन्दोलन के उत्तेजित क्षणो मे भी वह कभी उग्र नही हुए। वस्तुत वह कभी असतुलित होते ही नही थे। उच्छवास उद्वेग से उन्हे प्रेम नही था। सहज भाव से सहज भाषा मे सतुलित मत व्यक्त करना उनका स्वभाव था। हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र मे श्रद्धेय बाबूराम विष्णु पराडकर अपन सम्पादकीय लेखो के कारण सुप्रसिद्ध थ। इन्द्र जी उनसे पीछे नही थे। विरोधी के दृष्टिकोण को समझ कर अपनी हार्दिक सहानुभूति देते हुए मत व्यक्त करना केवल इन्द्र जी का ही काम था। बहुत स सुप्रसिद्ध अग्रेजी पत्रो के सम्पादकीयो म भी वह दष्टि प्राय नही मिलती। यही विशषता उन्हे कभी साम्प्रदायिक नही बना सकी। वह कभी निर हिन्दू नही बन सके, मनुष्य ही बन रहे।

और वह केवल पत्रकार ही नही थे, यद्यपि हिन्दी पत्रकारिता की जडें जमान मे उनका योग अभूतपूव रहा है। कितना कुछ उन्होन दिया, कितनी साधना उ होन की इसका सही सही मूल्याकन होना अभी शेष है। उस सबको खतिया कर अभी तक किसी न दखा ही नही है। वह साहित्यिक थे, स्वाधीनता सग्राम के सनानी थे राज-नता थे शिक्षाविद थे और एक प्रसिद्ध आयसमाजी भी थे। कभी कभी उनके य सभी रूप जो परस्पर-विरोधी भी थे। उ ह परेशान कर दते थे। लेकिन वह परेशान होत नही थे, क्योकि उनम जो सम वय वृत्ति थी, दूसरे का समझने का जो दृष्टि-कोण था वह सदा उन्ह ऊपर उठाए रखता था। और यह भी सच है कि

इसी सम वय वत्ति के कारण वह किसी एक क्षेत्र म सर्वोपरि नही हो सके, इसीलिए जबकि उ ह दिल्ली का बेताज बादशाह होना था, वह राज्य-सभा के एक सदस्य बनकर रह गए या गुरुकुल म समय व्यतीत करन को विवश हुए। यह बात नही कि इस क्षेत्र मे उ होने मूल्यवान काय नही किया लेकिन वह इसस कुछ अधिक के लिए थ। और वह अधिक उनके हाथ मे आ आकर रह गया। इसका कारण उनके पारिवारिक जीवन मे खोजा जा सकता है लेकिन कारण की खोज अन व्यथ है। सत्य इतना ही है उनमे कुछ आशाए थी, जो पूरी नही हो सकी।

इ द्र जी साहित्यिक थ। आज जिस तीव्र गति से मूल्य बदल रह है, उसको दखते हुए उनका नाम यदि हम भूल गए है तो इसके लिए किसी को दोष नही दिया जा सकता। लेकिन एक समय था कि जिस प्रकार उनके सम्पादकीय लखो से स्वतत्रता सग्राम के सैनिक अनुप्राणित होत थ, उसी प्रकार उनकी साहित्यिक रचनाओ ने भी अनेक पाठक पदा किए। इतिहासकार के रूप म उनका योगदान कम नही है। बल्कि उप यास-लेखक स अधिक वह एक इतिहासकार क रूप मे याद किए जाएगे। उनक सस्मरण, उनक इतिहास ग्रथ हि दी साहित्य की निधि बनकर रहेंग। इसका भी कारण उनकी वही सम वय और सतुलन वत्ति है। कथा साहित्य मे यह वत्ति इतनी प्रभावशालिनी नही होती जितनी सस्मरण और इतिहास लेखन म। उनकी सहज सरल भाषा, सहज सुगम शली स्पष्ट सुलझे हुए विचार सब मिलाकर एक ऐसा चित्र पाठक के मन पर अकित करत है कि वह उसे कभी भूल नही पाता। और उसका अथ समझने के लिए उस द्राविड प्राणायाम भी नही करना पडता। यह गुण इतिहास का है, कथा साहि य का नही। फिर भी अपन समय मे उनक उप यास अत्य त लोकप्रिय हुए।

याद आता है कि आज से लगभग २५ वष पूव मेरी एक कहानी की समालोचना करत हुए उ होन लिखा था कि यह कहानी इसलिए अधिक रोचक और प्रभावशाली हो सकी है कि इसकी शली ऊबड-खाबड है।

'ऊबड खाबड श द का प्रयोग इस बात का प्रमाण है कि वह उस शली को पसद नही करत थे। वह साफ सपाट शली के समथक थे, लेकिन

यह भी सत्य है कि वह कहानी उन्हें अच्छी लगी थी। और अच्छी लगने का कारण उनकी अपनी शैली में भिन्नता थी। भिन्नता का अर्थ यहाँ नवीनता से लिया जा सकता है। अर्थात जिस वातावरण में वह रम हुए थे उसमें मुक्ति पाने की चाह उनमें थी। यही विकसित होना है। इस दृष्टि में इन्द्रजी सदा नये का स्वागत करने को तैयार रहते थे। इसीलिए उनमें दूसरे का दृष्टिकोण समझने की शक्ति थी। वैसे उस कहानी का अच्छा लगने का एक और भी कारण था। वह था आर्यसमाज का उग्र सुधारवाद। प्रचलित रीति-नीति का घोर विरोध करते हुए उसमें मैंने विधवा के मुक्त प्रेम का समर्थन किया था।

इन्द्र जी की एक और विशेषता जो उन्हें लोकप्रिय बनाती थी, वह थी मुक्त मन से अपने को खोल देने की प्रवृत्ति। मित्रों में बैठकर जब वह बातें करते थे तब सीमाएं उनको बांधती नहीं थीं। सीमा मुक्ति से यहाँ अर्थ उच्छृंखलता नहीं है, अपितु स्पष्टता है। श्री महावीर त्यागी की चर्चा करते हुए वह किस्सों पर किस्से सुनाते चले जाते थे। जिस समय त्यागी जी पहली बार मंत्री बने थे उस समय बहुत से व्यक्ति इन्द्र जी को भी परेशान करते थे। इन्द्र जी त्यागी जी के साढ़ू थे। और जैसा कि इस अभागे देश में नियम बन गया है तब भी कोई काम बिना सिफारिश के नहीं होना था। लेकिन इन्द्र जी ने शायद ही कभी इस काम में रुचि ली हो। एक दिन कहने लगे— जब कोई मेरे पास आता है तब मैं उनको त्यागी जी का वह किस्सा सुना देता हूँ जिसमें उन्होंने अपने किसी नातेदार की एक ऐसे अवसर पर अच्छी तरह खबर ली थी। उन्हें घर से चले जाने तक को कह दिया था। कह देता हूँ कि मुझे अपना मान प्रिय है। मेरे कहने या साथ जाने पर आपका होता हुआ काम भी नहीं होगा।"

हम नहीं जानते कि यह बात कितनी सत्य है, लेकिन त्यागी जी की इस विशेषता के बारे में दूसरे लोगों से भी हम ने ऐसा ही कुछ सुना है। केवल त्यागी जी के विषय में ही नहीं, दूसरे प्रसंगों में भी हमने इन्द्र जी के खरेपन का परिचय पाया। यह खरापन उनमें अन्त तक बना उनकी सहजता का यह एक प्रमुख आधार था, यद्यपि इसके कारण बहुत बार गलत समझा गया। और इसी के कारण बार

असफलताओं का सामना करना पड़ा।

लगभग चालीस वर्ष की अवधि में जब कि मैंने उनका नाम सुना और फिर उन्हें पास से देखा उनकी सारी दुर्बलताओं के बावजूद, एक ऐसे आकर्षण का अनुभव किया जो किसी को अपनी ओर खींचता ही नहीं, प्रशंसा से भरता भी है। वह विद्वान थे, परन्तु उनकी विद्वत्ता आतंकित नहीं करती थी। वह नेता थे परंतु उनका नेतृत्व परेशान करने वाला नहीं था। इसीलिए वह सही अर्थों में न विद्वान बन सके न नेता। वह मात्र एक तेजस्वी पत्रकार, एक सरस साहित्यिक और एक रचनात्मक शिक्षाविद बनकर रह गए। उनकी प्रवृत्तियां इतने क्षेत्रों में बिखर गईं कि वह किसी भी एक क्षेत्र में शिखर तक नहीं पहुंच सके। मनुष्य है तो दुर्बलताएं भी उसमें होती ही हैं। कुछ मनुष्य होते हैं जो इन्हीं दुर्बलताओं को अभूतपूर्व सफलताओं का आधार बना लेते हैं, लेकिन दूसरे प्रकार के वे भी मनुष्य होते हैं, जिनके सिर पर ये दुर्बलताएं चढ़ बैठती हैं। और फिर वे अनजाने अनचाहे उनके शिकंजे में फंसकर रह जाते हैं। इन्द्र जी उन्हीं दूसरे प्रकार के व्यक्तियों में से थे। वह ऐसे राजनीतिज्ञ नहीं थे कि इस शिकंजे को तोड़ सकते इसीलिए वह एक साधारण मनुष्य बनकर रह गए। और एक के बाद एक असफलता उन्हें परेशान करती रही। दुर्भाग्य से आज मनुष्य का मूल्य सफलताओं से आंका जाता है लेकिन वास्तव में आज के संदर्भ में सफलता मनुष्य की नहीं, शैतान की कसौटी है। इस कसौटी को हटाकर जब इन्द्र जी का मूल्यांकन होगा, तब एक ऐसे मानव के दर्शन होंगे जो सफलताओं और असफलताओं से परे सचमुच मानव होता है।

□

## विष्णु प्रभाकर

—विष्णु प्रभाकर हिन्दी के कहानी उपन्यास तथा नाटक के क्षेत्र म विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्न रचनाकार के रूप मे प्रतिष्ठित है। हाल ही म प्रसिद्ध बंगला उपन्यासकार शरत चन्द्र की जीवन "आवारा मसीहा" के कृतित्व ने विष्णुजी को भारत के महान जीवनीकार के रूप म प्रस्तुत किया है।

विष्णुजी का जन्म 21 जून, 1912 को मुजफ्फरनगर (उ० प्र०) के एक गाव म हुआ उनका बचपन हिसार (हरियाणा) म गुजरा। वही शिक्षा प्राप्त की और वही आपने सरकारी नौकरी से जिन्दगी की शुरूआत की। नौकरी छोडकर आपने स्वतन्त्र लेखन अपनाया इस बीच कुछ दिन आकाशवाणी मे अधिकारी के रूप मे भी रहे। सम्प्रत्ति स्वतन्त्र लेखन ही आधार है।

### प्रमुख रचनाएँ

आवारा मसीहा, स्वप्न मयी, पुल टूटने से पहले, कोई तो, डॉक्टर, निशिकान्त, युगे युगे क्रान्ति, धरती अब भी घूम रही है, संघर्ष के बाद, प्रकाश और परछाइ, अब और नही, तट के बन्धन, कुछ शब्द कुछ रेखाएँ, निझर दहकती भट्टी, तीसरा आदमी आदि।